चिन्तनीय बातें

स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण आश्रम
धन्तोली, नागपुर-१
म. प्र.

प्रकाशक—
स्वामी भास्करेश्वरानन्द,
अध्यक्ष, श्रीरामकृष्ण आश्रम,
धन्तोली, नागपुर-१, म. प्र.

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प ४९ वाँ

(श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर द्वारा सर्वाधिकार स्वरक्षित।)

मुद्रक—
रे. वा. पायाळ,
सें. इं. प्रिं. ॲन्ड लि. व. लि.
सीताबर्डी, नागपुर.

मूल्य १ रु.

प्राक्कथन

विविध महत्वपूर्ण विषयों पर स्वामी विवेकानन्दजी के कुछ लेखों को 'चिन्तनीय बातें' के रूप में हम पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। स्वामीजी ने अपनी मौलिक शैली में 'हमारी वर्तमान समस्या', 'ज्ञानार्जन', 'चिन्तनीय बातें' इत्यादि विषयों पर अपने विचार प्रकट किए हैं और उनके द्वारा व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय जीवन की कुछ धार्मिक तथा सामाजिक समस्याओं को सामने रखते हुए उन्हें सुलझाने का मार्ग दिग्दर्शित किया है। धर्मप्राण भारत आज प्रकृत धर्म को खोकर, सामाजिक व्यवस्थाओं के अपने महान् आदर्श को भूलकर पतन की किस गहराई तक उतर चुका है, इसकी स्पष्ट झाँकी स्वामीजी ने दर्शाई है, और वह किस प्रकार पुनः अपनी खोई हुई आध्यात्मिकता को प्राप्त कर पूर्ववत्—नहीं, पहले से भी अधिक उन्नत हो सकता है तथा संसार के समस्त राष्ट्रों का अग्रणी बन सकता है यह भी उन्होंने अपूर्व ढंग से समझाया है। ये सब बातें हमारे लिए विशेषरूप से चिन्तनीय हैं।

प्राध्यापक श्री सुशील कुमार चन्द्र, एम. ए. के हम बड़े आभारी हैं, जिन्होंने मूल बंगला से प्रस्तुत पुस्तक के लेखों का अनुवाद किया है। सुन्दर भाषा में स्वामीजी के भावों को अक्षुण्ण बनाए रखने में उन्होंने जो सफलता पाई है, वह सराहनीय है।

हमारा यह पूर्ण विश्वास है कि स्वामीजी के ये विचार पाठकों को सुचारु रूप से अपना जीवन गढ़ने तथा सामाजिक एवं राष्ट्रीय पुनरुत्थान के पथप्रदर्शन में बड़े सहायक होंगे।

नागपुर
दि. १-१-१९५३

प्रकाशक

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
१. हमारी वर्तमान समस्या	१
२. हिन्दू धर्म और श्रीरामकृष्ण	१२
३. चिन्तनीय बातें	१९
४. रामकृष्ण और उनकी उक्ति	२७
५. ज्ञानार्जन	४३
६. पैरिस-प्रदर्शनी	५०
७. बंग-भाषा	६०
८. शिवजी का भूत	६५
९. ईसा-अनुसरण	६८

स्वामी विवेकानन्द

चिन्तनीय बातें

हमारी वर्तमान समस्या *

भारत की प्राचीन कथायें एक देवतुल्य जाति के अलौकिक उद्यम, अद्भुत चेष्टा, असीम उत्साह, अप्रतिहत शक्तिसमूह, और सर्वोपरि, अत्यन्त गम्भीर चिन्ताओं से परिपूर्ण हैं। 'इतिहास' शब्द का अर्थ यदि केवल राजे-रजवाड़ों की कथायें ही ली जायँ, उनके काम-क्रोध-व्यसनादि के द्वारा समय समय पर डाँवाडोल और उनकी सुचेष्टा या कुचेष्टा से रंग बदलते हुए समाज के चित्र ही यदि इतिहास माने जायँ, तो कहना होगा कि इस प्रकार का इतिहास सम्भवतः भारत का है ही नहीं। किन्तु भारत के समस्त धर्मग्रन्थ, काव्य-सिन्धु दर्शनशास्त्र और विविध वैज्ञानिक पुस्तकें अपने प्रत्येक पद और पंक्ति से, राजादि पुरुषविशेषों का वर्णन करनेवाली पुस्तकों की

* स्वामीजी ने उपरोक्त निबन्ध, १४ जनवरी १८९९ से प्रकाशित होनेवाले रामकृष्ण मिशन के पाक्षिक पत्र 'उद्बोधन' (जिसने बाद में मासिक रूप धारण कर लिया था) के उपोद्घात के तौर पर लिखा था।

अपेक्षा सहस्रोंगुना अधिक स्पष्ट रूप से, भूख-प्यास-काम-क्रोधादि से परिचालित, सौन्दर्य-तृष्णा से आकृष्ट, महान् अप्रतिहत बुद्धिसम्पन्न उस बृहत् जन-संघ के अभ्युदय के क्रम-विकास का गुणगान कर रही हैं, जिस जन-समाज ने सभ्यता के प्रत्यूष के पहले ही नाना प्रकार के भावों का आश्रय ले, नानाविध पथों का अवलम्बन कर इस पूर्णता की अवस्था को प्राप्त किया था। प्राचीन भारतवासियों ने प्रकृति के साथ युग-युगान्तरव्यापी संग्राम में जो असंख्य जय-पताकायें संग्रह की थीं, वे झंझावात के झकोरे में पड़कर यद्यपि आज जीर्ण हो गई हैं, किन्तु फिर भी वे भारत के अतीत गौरव की जय-घोषणा कर रही हैं।

इस जाति ने मध्य- एशिया, उत्तर यूरोप अथवा सुमेरु पहाड़ के निकटवर्ती बर्फीले प्रदेशों से धीरे धीरे उतरकर पवित्र भारतभूमि को तीर्थ में परिणत किया था, अथवा यह तीर्थभूमि भारत ही उनका आदिम निवास-स्थान था—इसके निश्चय करने का अब तक भी कोई साधन उपलब्ध नहीं है। अथवा, भारतवर्ष की ही, या भारतवर्ष की सीमा के बाहर किसी देश में रहनेवाली एक विराट जाति ने नैसर्गिक नियम के अनुसार स्थानभ्रष्ट होकर यूरोपादि देशों में उपनिवेश स्थापित किये, और इस जाति के मनुष्यों का रंग सफेद था या काला, आँखें नीली थीं या काली, बाल सुनहरे थे या काले—इन बातों को निश्चयात्मक रूप से जानने के लिये कतिपय यूरोपीय भाषाओं के साथ संस्कृत भाषा के सादृश्य के अतिरिक्त कोई यथेष्ट प्रमाण अभी तक नहीं मिला है। वर्तमान भारतवासी उस विराट जाति के मनुष्यों के ही वंशज हैं या नहीं, अथवा भारत की किस

जाति में किस परिमाण में उनका रक्त है, इन प्रश्नों की मीमांसा भी सहज नहीं है।

जो कुछ हो, इन प्रश्नों की यदि निश्चित रूप से मीमांसा नहीं भी होती तो भी हमारी कोई विशेष हानि नहीं।

पर एक बात ध्यान में रखनी होगी, और वह यह कि जो प्राचीन भारतीय जाति सभ्यता की रश्मियों से सर्वप्रथम उन्मीलित हुई और जिस देश में सर्वप्रथम चिन्ताशीलता का पूर्ण विकास हुआ, उस जाति और उस स्थान में उसके लाखों वंशज—मानसपुत्र—उसके भाव एवं चिन्तनराशि के उत्तराधिकारी अब भी मौजूद हैं। नदी, पर्वत और समुद्र लाँघकर, देशकाल की बाधाओं को नगण्य कर, स्पष्ट या अज्ञात अनिर्वचनीय सूत्र से भारतीय चिन्तन की रुधिर-धारा धरातल पर रहनेवाली अन्य जातियों की नसों में बही और अब भी बह रही है।

शायद हमारे हिस्से में सार्वभौमिक पैतृक सम्पत्ति का कुछ अधिक अंश है।

भूमध्य सागर के पूर्व की ओर सुन्दर द्वीपमाला-परिवेष्टित, प्रकृति के सौन्दर्य से विभूषित एक छोटे देश में, थोड़े से किन्तु सर्वाङ्ग-सुन्दर, सुगठित, मजबूत, अटल अध्यवसायी, पार्थिव सौन्दर्य-सृष्टि के एकाधिराज, अपूर्व क्रियाशक्ति प्रतिभाशाली मनुष्यों की एक जाति थी।

अन्यान्य प्राचीन जातियाँ उनको 'यवन' कहती थीं। किन्तु वे अपने को 'ग्रीक' कहते थे।

मानवी इतिहास में यह मुष्टिमेय अलौकिक वीर्यशाली जाति एक अपूर्व दृष्टान्त है। जिस किसी देश के मनुष्यों ने समाजनीति, युद्धनीति, देश-शासन, शिल्प-कला आदि पार्थिव विद्याओं में उन्नति की है या जहाँ अब भी उन्नति हो रही है, वहीं ग्रीस की छाया पड़ी है। प्राचीन काल की बात छोड़ दीजिये; आधुनिक समय में भी आधी शताब्दी से इन यवन गुरुओं का पदानुसरण कर यूरोपीय साहित्य के द्वारा जो ग्रीसवालों का प्रकाश आया है, उसी प्रकाश से अपने गृहों को उज्ज्वल करके हम आधुनिक बंगाली अभिमान और स्पर्धा का अनुभव कर रहे हैं।

समग्र यूरोप आज सब विषयों में प्राचीन ग्रीस का छात्र और उत्तराधिकारी है; यहाँ तक कि, इङ्गलैण्ड के एक विद्वान् ने कहा भी है, "जो कुछ प्रकृति ने उत्पन्न नहीं किया है, वह ग्रीसवालों की सृष्टि है।"

सुदूरस्थित विभिन्न पर्वतों (भारत और ग्रीस) से उत्पन्न इन दो महानदों (आर्य और ग्रीक) का बीच बीच में संगम होता रहता है; और जब कभी इस प्रकार की घटना घटती है, तभी जन-समाज में एक बड़ी आध्यात्मिक तरंग उठकर सभ्यता की रेखा का दूर दूर तक विस्तार कर देती है और मानव-समाज में भ्रातृत्व-बन्धन को अधिक दृढ़ कर देती है।

अत्यन्त प्राचीन काल में एक बार भारतीय दर्शन-विद्या ग्रीक-उत्साह के साथ मिलकर रूसी, ईरानी आदि शक्तिशाली जातियों के अभ्युदय में सहायक हुई। सिकन्दर शाह के दिग्विजय के पश्चात् इन दोनों महाजलप्रपातों के संघर्ष के फलस्वरूप ईसा आदि नाम

से प्रसिद्ध आध्यात्मिक तरंग ने प्रायः अर्थ भू-
दिया। पुनः इस प्रकार के मिश्रण से आर-
जिससे आधुनिक यूरोपीय सभ्यता की नींव पड़ी
पड़ता है कि वर्तमान समय में भी पुनः इन दो महाशक्ति-
सम्मिलन-काल उपस्थित हुआ है।

अब की बार (उनका) केन्द्र है भारतवर्ष।

भारत की वायु शान्ति-प्रधान है, यवनों की प्रकृति शक्ति-प्रधान है; एक गम्भीर चिन्ताशील है, दूसरा अदम्य कार्यशील; एक का मूलमंत्र है 'त्याग', दूसरे का 'भोग'; एक की सब चेष्टायें अन्तर्मुखी हैं, दूसरे की बहिर्मुखी; एक की प्रायः सब विद्यायें आध्यात्मिक हैं, दूसरे की आधिभौतिक; एक मोक्ष का अभिलाषी है, दूसरा स्वाधीनता को प्यार करता है; एक इस संसार के सुख प्राप्त करने में निरुत्साह है, और दूसरा इसी पृथ्वी को स्वर्ग बनाने में सचेष्ट है; एक नित्य सुख की आशा में इस लोक के अनित्य सुख की उपेक्षा करता है, दूसरा नित्य सुख में शंका करके अथवा उसको दूर जानकर यथासम्भव ऐहिक सुख प्राप्त करने में उद्यत रहता है।

इस युग में पूर्वोक्त दोनों ही जातियों का तो लोप हो गया है, केवल उनकी शारीरिक अथवा मानसिक सन्तान ही वर्तमान हैं।

यूरोप तथा अमेरिकावासी, यवनों की समुन्नत मुखोज्ज्वल-कारी सन्तान हैं; पर दुःख है कि आधुनिक भारतवासी प्राचीन आर्यकुल के गौरव नहीं रह गए।

किन्तु राख से ढकी हुई अग्नि के समान इन आधुनिक भारतवासियों में भी छिपी हुई पैतृक शक्ति अब भी विद्यमान है।

समय महाशक्ति की कृपा से उसका पुनः स्फुरण होगा।

प्रस्फुरित होकर क्या होगा?

क्या पुनः वैदिक यज्ञधूम से भारत का आकाश मेघावृत होगा, अथवा पशुरक्त से रन्तिदेव की कीर्ति का पुनरुद्दीपन होगा! गोमेध, अश्वमेध, देवर के द्वारा सुतोत्पत्ति आदि प्राचीन प्रथायें पुनः प्रचलित होंगी अथवा बौद्ध काल की भाँति फिर समग्र भारत संन्यासियों की भरमार से एक विस्तीर्ण मठ में परिणत होगा? मनु का शासन क्या पुनः उसी प्रभाव से प्रतिष्ठित होगा अथवा देशभेद के अनुसार भक्ष्याभक्ष्य-विचार का ही आधुनिक काल के समान सर्वतोमुखी प्रभुत्व रहेगा? क्या जातिभेद गुणानुसार (गुणगत) होगा अथवा सदा के लिये वह जन्म के अनुसार (जन्मगत) ही रहेगा? जाति-भेद के अनुसार भोजन-सम्बन्ध में छुआछूत का विचार बंग-देश के समान रहेगा अथवा मद्रास आदि प्रान्तों के समान महान् कठोर रूप धारण करेगा या पंजाब आदि प्रदेशों के समान यह एकदम ही दूर हो जायगा? भिन्न भिन्न वर्णों का विवाह मनु के द्वारा बतलाए हुए अनुलोम-क्रम से—जैसे नेपालादि देशों में आज भी प्रचलित है—पुनः सारे देश में प्रचलित होगा अथवा बंग आदि देशों के समान एक वर्ण के अवान्तर भेदों में ही प्रतिबद्ध रहेगा? इन सब प्रश्नों का उत्तर देना अत्यन्त कठिन है। देश के विभिन्न प्रान्तों में, यहाँ तक कि, एक ही प्रान्त में भिन्न भिन्न जातियों और वंशों के आचारों की घोर विभिन्नता को ध्यान में रखते हुए यह मीमांसा और भी कठिन जान पड़ती है।

तब क्या होगा ?

जो हमारे पास नहीं है, शायद जो पहले भी नहीं था, जो यवनों के पास था, जिसका स्पन्दन यूरोपीय विद्युदागार (डाइनमो) से उस महाशक्ति को बड़े वेग से उत्पन्न कर रहा है, जिसका संचार समस्त भूमण्डल में हो रहा है, हम उसी को चाहते हैं। हम वही उद्यम, वही स्वाधीनता की प्रीति, वही आत्मावलम्बन, वही अटल धैर्य, वही कार्यदक्षता, वही एकता और वही उन्नति-तृष्णा चाहते हैं। बीती बातों की उधेड़-बुन छोड़कर अनन्त तक विस्तारित अग्रसर दृष्टि की हम कामना करते हैं और शिर से पैर तक की सब नसों में बहनेवाले रजोगुण की उत्कट इच्छा रखते हैं।

त्याग की अपेक्षा और अधिक शान्तिदायी क्या हो सकता है ? अनन्त कल्याण की तुलना में क्षणिक ऐहिक कल्याण निःसंशय अत्यन्त तुच्छ है। सत्त्वगुण की अपेक्षा महाशक्ति का संचय और किससे हो सकता है ? यह वास्तव में सत्य है कि अध्यात्मविद्या की तुलना में और सब विद्यायें 'अविद्यायें' हैं, किन्तु इस संसार में कितने मनुष्य सत्त्वगुण प्राप्त करते हैं ? इस भारतभूमि में ऐसे कितने मनुष्य हैं ? कितने मनुष्यों में ऐसा महावीरत्व है, जो ममता को छोड़कर सर्वत्यागी हो सकें ? वह दूरदृष्टि कितने मनुष्यों के भाग्य में है, जिससे सब पार्थिव सुख तुच्छ विदित होते हैं ? वह विशाल हृदय कहाँ है, जो भगवान के सौन्दर्य और महिमा की चिन्ता में अपने शरीर को भी भूल जाता है ? जो ऐसे हैं भी, वे समग्र भारत की जनसंख्या की तुलना में मुट्ठी भर ही हैं। इन थोड़े से मनुष्यों की मुक्ति के लिये करोड़ों नरनारियों को सामाजिक और आध्यात्मिक

चक्र के नीचे क्या पिस जाना होगा ?

और इस प्रकार पिसे जाने से फल भी क्या होगा ?

क्या तुम देखते नहीं कि इस सत्त्वगुण के बहाने से देश धीरे धीरे तमोगुण के समुद्र में डूब रहा है ? जहाँ महाजड़बुद्धि पराविद्या के अनुराग के छल से अपनी मूर्खता छिपाना चाहते हैं; जहाँ जन्म भर का आलसी वैराग्य के आवरण को अपनी अकर्मण्यता के ऊपर डालना चाहता है; जहाँ क्रूर कर्मवाले तपस्यादि का स्वांग करके निष्ठुरता को भी धर्म का अंग बनाते हैं; जहाँ अपनी कमज़ोरी के ऊपर किसी की भी दृष्टि नहीं है, किन्तु प्रत्येक मनुष्य दूसरों के ऊपर दोषारोपण करने को तत्पर है; जहाँ केवल कुछ पुस्तकों को कण्ठस्थ करना ही ज्ञान है, दूसरों के विचारों की टिप्पणी करना ही प्रतिभा है, और इन सबसे बढ़कर केवल पितृपुरुषों के नाम-कीर्तन में ही जिसकी महत्ता रहती है, वह देश दिन पर दिन तमोगुण में डूब रहा है यह सिद्ध करने के लिये हमको क्या और प्रमाण चाहिये ?

अतएव सत्त्वगुण अब भी हमसे बहुत दूर है। हममें जो परमहंस-पद प्राप्त करने योग्य नहीं हैं या जो भविष्य में योग्य होना चाहते हैं, उनके लिये रजोगुण की प्राप्ति ही परम कल्याणप्रद है। बिना रजोगुण के द्वारा क्या कोई सत्त्वगुण प्राप्त कर सकता है ? बिना भोग का अन्त हुए योग हो ही कैसे सकता है ? बिना वैराग्य के त्याग कहाँ से आएगा ?

दूसरी ओर रजोगुण ताड़ के पत्ते की आग की तरह शीघ्र ही बुझ जाता है। सत्त्व का अस्तित्व नित्य वस्तु के निकटतम है ... प्रायः नित्य-सा है। रजोगुणवाली जाति दीर्घजीवी नहीं

होती, सत्त्वगुणवाली जाति चिरंजीवी-सी है। इतिहास इस बात का साक्षी है।

भारत में रजोगुण का प्रायः सर्वथा अभाव ही है। इसी प्रकार पाश्चात्य में सत्त्वगुण का अभाव है। इसलिये यह निश्चय है कि भारत से बही हुई सत्त्वधारा के ऊपर पाश्चात्य जगत् का जीवन निर्भर रहता है; और यह भी निश्चित है कि बिना तमोगुण को रजोगुण के प्रवाह से दबाये, हमारा ऐहिक कल्याण नहीं होगा और बहुधा पारलौकिक कल्याण में भी विघ्न उपस्थित होंगे।

इन दोनों शक्तियों के सम्मिलन और मिश्रण की यथासाध्य सहायता करना इस पत्र ('उद्बोधन') का उद्देश्य है।

पर भय यह है कि इस पाश्चात्य वीर्य-तरंग में चिरकाल से अर्जित कहीं हमारे अमूल्य रत्न तो न बह जाएँगे! और उस प्रबल भँवर में पड़कर भारतभूमि भी कहीं ऐहिक सुख प्राप्त करने की रण-भूमि में तो न बदल जायगी! असाध्य, असम्भव एवं जड़ से उखाड़ देनेवाले विदेशी ढंग का अनुकरण करने से हमारी दो नावों के बीच में पड़ जानेवाली दशा तो न हो जायगी—और हम 'इतोनष्टस्ततो भ्रष्टः' के उदाहरण तो न बन जायँगे?

इसलिये हमको अपने घर की सम्पत्ति सर्वदा सम्मुख रखनी होगी, जिससे जनसाधारण तक अपने पैतृक धन को सदा देख और जान सकें, हमको ऐसा प्रयत्न करना होगा और इसी के साथ साथ बाहर से प्रकाश प्राप्त करने के लिये हमको निर्भीक होकर अपने घर के सब दरवाजे खोल देने होंगे। संसार के चारों ओर से प्रकाश की किरणें आएँ, पाश्चात्य का तीव्र प्रकाश भी आए! जो दुर्बल,

दोषयुक्त है, उसका नाश होगा ही। यदि वह चला जाता है तो जाय, उसे रखकर हमें क्या लाभ होगा? जो वीर्यवान बलप्रद है, वह अविनाशी है; उसका नाश कौन कर सकता है?

कितने पर्वत-शिखरों से कितनी ही हिमनदियाँ, कितने ही झरने, कितनी जलधारायें निकलकर विशाल सुरतरंगिणी के रूप में महावेग से समुद्र की ओर जा रही हैं! कितने विभिन्न प्रकार के भाव, देशदेशान्तर के कितने साधु-हृदयों और ओजस्वी मस्तिष्कों से निकलकर कितने शक्ति-प्रवाह नर-रंगक्षेत्र, कर्मभूमि भारतवर्ष में छा रहे हैं! रेल-जहाज़रूपी वाहन और बिजली की सहायता से, अंगरेजों के आधिपत्य में, बड़े ही वेग से नाना प्रकार के भाव और रीति-नीति सारे देश में फैल रही हैं। अमृत आ रहा है और उसी के साथ साथ विष भी आ रहा है। क्रोध, कोलाहल और रक्तपात आदि सभी हो चुके हैं—पर इस तरंग को रोकने की शक्ति हिन्दू-समाज में नहीं है। यंत्र द्वारा लाए हुए जल लेकर हड्डियों से साफ की हुई शक्कर तक सब पदार्थों का बहुत मौखिक प्रतिवाद करते हुए भी हम सब चुपचाप उन्हें उदरस्थ कर रहे हैं। कानून के प्रबल प्रभाव से अत्यन्त यत्न से रक्षित हमारी बहुत सी रीतियाँ धीरे धीरे दूर होती जा रही हैं—उनकी रक्षा करने की शक्ति हममें नहीं है। हममें शक्ति क्यों नहीं है? क्या सत्य वास्तव में शक्तिहीन है? "सत्यमेव जयते नानृतम्"—सत्य की ही जय होती है, न कि झूठ की—यह वेदवाणी क्या मिथ्या है? अथवा जो आचार पाश्चात्य शासन-शक्ति के प्रभाव बहे चले जा रहे हैं, वे आचार ही क्या अनाचार थे? यह भी

एक विशेष रूप से विचारणीय विषय है।

"बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय"—निःस्वार्थ भाव से, भक्ति-पूर्ण हृदय से इन सब प्रश्नों की मीमांसा के लिए यह 'उद्बोधन' सहृदय प्रेमी सुध-मण्डली का आह्वान करता है एवं द्वेषबुद्धि छोड़, व्यक्तिगत, सामाजिक अथवा साम्प्रदायिक कुवाक्य-प्रयोग से विमुख होकर सब सम्प्रदायों की सेवा के ही लिए अपना शरीर अर्पण करता है।

कर्म करने का अधिकार मात्र हमारा है, फलाफल के दाता प्रभु हैं। हम केवल प्रार्थना करते हैं—"हे तेजस्वरूप! हमको तेजस्वी बनाओ; हे वीर्यस्वरूप! हमको वीर्यवान बनाओ; हे बल-स्वरूप! हमको बलवान बनाओ।"

हिन्दू धर्म और श्रीरामकृष्ण

शास्त्र शब्द से अनादि अनन्त 'वेद' का तात्पर्य है। धार्मिक व्यवस्थाओं में मतभेद होने पर एकमात्र वेद ही सर्वमान्य प्रमाण है।

पुराणादि अन्य धर्मग्रन्थों को स्मृति कहते हैं। ये भी प्रमाण में ग्रहण किए जाते हैं, किन्तु तभी तक, जब तक वे श्रुति के अनुकूल कहें, अन्यथा नहीं।

'सत्य' के दो भेद हैं:—पहला, जो मनुष्य की पंचेन्द्रियों से एवं तदाश्रित अनुमान से ग्रहण किया जाय, और दूसरा, जो अतीन्द्रिय सूक्ष्म योगज शक्ति द्वारा ग्रहण किया जाय।

प्रथम उपाय से संकलित ज्ञान को 'विज्ञान' कहते हैं और दूसरे प्रकार से संकलित ज्ञान को 'वेद' कहते हैं। अनादि अनन्त अलौकिक वेद-नामधारी ज्ञानराशि सदा विद्यमान है। सृष्टिकर्ता स्वयं इसी की सहायता से इस जगत् की सृष्टि, स्थिति और उसका नाश करता है।

यह अतीन्द्रिय शक्ति जिनमें आविर्भूत अथवा प्रकाशित होती है उनका नाम ऋषि है, और उस शक्ति के द्वारा वे जिस अलौकिक सत्य की उपलब्धि करते हैं, उसका नाम 'वेद' है।

यह ऋषित्व और वेद-द्रष्टृत्व लाभ करना ही यथार्थ धर्मानुभूति है। जब तक यह प्राप्त न हो तब तक 'धर्म' केवल बात की बात है, और यही मानना पड़ेगा कि धर्मराज्य की प्रथम सीढ़ी पर भी हमने पैर नहीं रखा।

समस्त देश, काल और पात्र में व्याप्त होने के कारण वेद का शासन अर्थात् वेद का प्रभाव देशविशेष, कालविशेष अथवा पात्र-विशेष तक सीमित नहीं है।

सार्वजनिक धर्म की व्याख्या करनेवाला एकमात्र वेद ही है।

अलौकिक ज्ञान-प्राप्ति का साधन यद्यपि हमारे देश के इतिहास-पुराणादि और म्लेच्छादि देशों की धर्म-पुस्तकों में थोड़ा-बहुत अवश्य वर्तमान है, फिर भी, अलौकिक ज्ञानराशि का सर्वप्रथम पूर्ण और अविकृत संग्रह होने के कारण, आर्य जाति के बीच में प्रसिद्ध वेद-नामधारी, चार भागों में विभक्त अक्षर-समूह ही सब प्रकार से सर्वोच्च स्थान का अधिकारी है, समस्त जगत् का पूजार्ह है तथा आर्य एवं म्लेच्छ सबके धर्मग्रन्थों की प्रमाणभूमि है।

आर्य जाति द्वारा आविष्कृत उक्त वेद नामक शब्दराशि के सम्बन्ध में यह भी जान लेना होगा कि उसका जो अंश लौकिक, अर्थवाद अथवा इतिहास सम्बन्धी बातों की विवेचना नहीं करता वही अंश वेद है।

ये वेद ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड दो भागों में विभक्त हैं। कर्मकाण्डवर्णित क्रिया और उसके फल माया-अधिकृत जगत् में ही सीमित होने के कारण देश, काल और पात्र के अधीन होकर परिवर्तित हुए हैं, होते हैं तथा होते रहेंगे। सामाजिक रीति-नीति भी

इसी कर्मकाण्ड के ऊपर निर्भर है; इसलिये समय समय पर इसका भी परिवर्तन होता रहा है और होता रहेगा। लोकाचार यदि सत्शास्त्र और सदाचार के प्रतिकूल न हो तो वह भी मान्य है। सत्शास्त्र-निन्दित और सदाचार-विरोधी लोकाचार के अधीन हो जाना ही आर्य जाति के अधःपतन का एक प्रधान कारण है।

निष्काम कर्म, योग, भक्ति और ज्ञान की सहायता से मुक्ति दिलानेवाला होने के कारण, तथा मायारूपी समुद्र को पार कराने में नेता के पद पर प्रतिष्ठित और देश-काल-पात्र आदि के द्वारा अप्रतिहत होने के कारण, ज्ञानकाण्ड अथवा वेदान्त भाग ही सार्वलौकिक, सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक धर्म का एकमात्र उपदेष्टा है।

मन्वादि शास्त्रों ने कर्मकाण्ड का आश्रय ग्रहण कर देश-काल-पात्र-भेद से मुख्यतः समाज का कल्याण करनेवाले कर्मों की शिक्षा दी है। पुराणों ने वेदान्त के छिपे हुए तत्वों को प्रकाश में लाकर, अवतारादि महान् चरित्रों का वर्णन करते हुए इन तत्वों की विस्तृत व्याख्या की है, और उनमें से प्रत्येक ने अनन्त भावमय भगवान के किसी एक भाव को प्रधान मानकर उसी भाव का उपदेश दिया है।

किन्तु जब कालवश सदाचार-भ्रष्ट, वैराग्यहीन, एकमात्र लोकाचार-निष्ठ और क्षीणबुद्धि आर्य-सन्तान इन सब भावविशेषों की विशेष शिक्षा के लिए अवस्थित आपातविरोधी दिखनेवाले एवं अल्पबुद्धि मनुष्यों के लिये विस्तृत भाषा में स्थूल रूप से वेदान्तिक सूक्ष्मतत्वों का प्रचार करनेवाले इन पुराणादिकों में वर्णित मर्मों को भी ग्रहण करने में असमर्थ हो गई, —और, इसके फलस्वरूप, जिस

समय उसने अनन्तभाव-समष्टि अखण्ड सनातन धर्म को सैकड़ों खण्डों में विभक्त कर, साम्प्रदायिक ईर्ष्या और क्रोध की ज्वाला को प्रज्वलित कर उसमें परस्पर की आहुति देने की सतत चेष्टा करते हुए इस धर्मभूमि भारतवर्ष को प्रायः नर्क-भूमि में परिणत कर दिया,— उस समय, आर्य जाति का प्रकृत धर्म क्या है और सतत विवदमान, आपात-प्रतीयमान अनेकशः विभक्त, सर्वथा प्रतियोगी आचारयुक्त सम्प्रदायों से घिरे, स्वदेशियों का भ्रान्ति-स्थान एवं विदेशियों का घृणास्पद हिन्दू-धर्म नामक युगयुगान्तरव्यापी विखण्डित एवं देश-काल के योग से इधर-उधर बिखरे हुए धर्मखण्ड-समष्टि के बीच यथार्थ एकता कहाँ है, यह दिखलाने के लिये—तथा कालवश नष्ट इस सनातन धर्म का सार्वलौकिक, सार्वकालिक और सार्वदेशिक स्वरूप अपने जीवन में निहित करके, संसार के सम्मुख सनातन धर्म के सजीव उदाहरणस्वरूप अपने को प्रदर्शित करते हुए लोक-कल्याण के लिये श्रीभगवान रामकृष्ण अवतीर्ण हुए।

सृष्टि, स्थिति और लयकर्ता के अनादि-वर्तमान सहयोगी शास्त्र संस्कार-रहित ऋषि-हृदय में किस प्रकार प्रकाशित होते हैं, यह दिखलाने के लिये और इसलिये कि इस प्रकार से शास्त्रों के प्रमाणित होने पर धर्म का पुनरुद्धार, पुनःस्थापन और पुनःप्रचार होगा, वेद-मूर्ति भगवान ने अपने इस नूतन रूप में बाह्य शिक्षा की प्रायः सम्पूर्ण रूप से उपेक्षा की है।

वेद अर्थात् प्रकृत धर्म की और ब्राह्मणत्व अर्थात् धर्मशिक्षकत्व की रक्षा के लिये भगवान बारम्बार शरीर धारण करते हैं, यह तो स्मृति आदि में प्रसिद्ध ही है।

ऊपर से गिरनेवाली नदी की जलराशि अधिक वेगवती होती है; पुनरुत्थित तरंग अधिक ऊँची होती है। उसी प्रकार प्रत्येक पतन के बाद आर्य समाज भी श्रीभगवान के कारुणिक नियन्तृत्व में नीरोग होकर पूर्वापेक्षा अधिक यशस्वी और वीर्यवान हुआ है —इतिहास इस बात का साक्षी है।

प्रत्येक पतन के बाद पुनरुत्थित समाज अन्तर्निहित सनातन पूर्णत्व को और भी अधिक प्रकाशित करता है; और सर्वभूतों में अवस्थित अन्तर्यामी प्रभु भी अपने स्वरूप को प्रत्येक अवतार में अधिकाधिक अभिव्यक्त करते हैं।

बार बार यह भारतभूमि मूर्छापन्न अर्थात् धर्मलुप्त हुई है और बारम्बार भारत के भगवान ने अपने आविर्भाव द्वारा इसे पुनर्जीवित किया है।

किन्तु अब दो घड़ी में ही बीत जानेवाली वर्तमान गम्भीर विषाद-रात्रि के समान और किसी भी अमा-निशा ने अब तक इस पुण्य-भूमि को आच्छन्न नहीं किया था। इस पतन की गहराई के सामने पहले के सब पतन गो-खुर के समान जान पड़ते हैं।

इसीलिये इस प्रबोधन की समुज्ज्वलता के सम्मुख पूर्व-युग के समस्त उत्थान उसी प्रकार महिमाविहीन हो जायेंगे, जिस प्रकार प्रातःकालीन सूर्य के सामने तारागण, और इस पुनरुत्थान के महावीर्य की तुलना में प्राचीन काल के समस्त उत्थान बालकेलि-से जान पड़ेंगे।

सनातन धर्म के समस्त भावसमूह अपनी इस पतनावस्था में, अधिकारी के अभाव से, अब तक इधर-उधर छिन्न-भिन्न होकर पड़े

रहे हैं—कुछ तो छोटे-छोटे सम्प्रदायों के रूप में और शेष सब लुप्तावस्था में।

किन्तु आज, इस नव उत्थान में नवीन बल से वही मानव-सन्तान, विखण्डित और बिखरी हुई अध्यात्म-विद्या को एकत्रित कर उसकी धारणा और अभ्यास करने में समर्थ होगी तथा लुप्त विद्या के पुनः आविष्कार में सक्षम होगी। इसी उज्ज्वल भविष्य के प्रथम निदर्शनस्वरूप परम कारुणिक श्रीभगवान पूर्व सभी युगों की अपेक्षा अधिक पूर्णता प्रदर्शित करते हुए, सर्वभाव-समन्वित एवं सर्वविद्या-युक्त होकर युगावतार के रूप में अवतीर्ण हुए हैं।

इसीलिए इस महायुग के प्रत्यूष-काल में सर्व भावों का मिलन प्रचारित हो रहा है, और यह असीम अनन्त भाव, जो सनातन शास्त्र और धर्म में निहित होते हुए भी अब तक छिपा हुआ था, पुनः आविष्कृत होकर उच्च निनाद से जनसमाज में उद्-घोषित हो रहा है।

यह नव युग-धर्म समस्त जगत् के लिए, विशेषतः भारतवर्ष के लिए, महा कल्याणकारी है; और इस नव युग-धर्म के प्रवर्तक श्रीभगवान रामकृष्ण पहले के समस्त युग-धर्म-प्रवर्तकों के पुनःसंस्कृत प्रकाश हैं। हे मानव, इस पर विश्वास करो और इसे हृदय में धारण करो।

मृत व्यक्ति फिर से नहीं जीता। बीती हुई रात फिर से नहीं आती। नदी की गई बाढ़ फिर से नहीं लौटती। जीवात्मा दो बार एक ही देह धारण नहीं करता। हे मनुष्यो, मुर्दे की पूजा

करने के बदले हम तुम्हें जीवित की पूजा के लिए पुकारते हैं; बीती हुई बातों पर माथापच्ची करने के बदले हम तुम्हें प्रस्तुत प्रयत्न के लिए बुलाते हैं। मिटे हुए मार्ग के खोजने में वृथा श्रम करने के बदले अभी बनाये हुए प्रशस्त और सन्निकट पथ पर चलने के लिए आह्वान करते हैं। बुद्धिमान, समझ लो!

जिस शक्ति के उन्मेष मात्र से दिग्दिगन्तव्यापी प्रतिध्वनि जागरित हुई है, उसकी पूर्णावस्था को कल्पना से अनुभव करो; और वृथा सन्देह, दुर्बलता और दासजाति-सुलभ ईर्ष्या-द्वेष का परित्याग कर, इस महायुगचक्र-परिवर्तन में सहायक बनो।

हम प्रभु के दास हैं, प्रभु के पुत्र हैं, प्रभु की लीला के सहायक हैं यही विश्वास दृढ़ कर कार्यक्षेत्र में उतर पड़ो।

चिन्तनीय बातें

(१)

देवता-दर्शन के लिए एक व्यक्ति आकर उपस्थित हुआ। ठाकुरजी का दर्शन पाकर उसके हृदय में यथेष्ट श्रद्धा एवं भक्ति का संचार हुआ, और ठाकुरजी के दर्शन से जो कुछ अच्छा उसे मिला, शायद उसे चुका देने के लिए उसने राग आलापना आरम्भ किया। दालान के एक कोने में एक खम्भे के सहारे बैठे हुए चौबेजी ऊंघ रहे थे। चौबेजी उस मन्दिर के पुजारी हैं, पहलवान हैं और सितार भी बजाया करते हैं—सुबह-शाम एक-एक लोटा भाँग चढ़ाने में निपुण हैं तथा उनमें और भी अनेकों सद्गुण हैं। चौबेजी के कर्णपटों में सहसा एक विकट आवाज के गूँज जाने से उनका नशा-समुत्पन्न विचित्र संसार पल भर के लिए उनकी बयालीस इंचवाली विशाल छाती के ऊपर 'उत्थाय हृदि लीयन्ते' हुआ। सरुण-अरुण-किरण-वर्ण नशीले नेत्रों को इधर-उधर घुमाकर अपने मन की चंचलता का कारण ढूँढने में व्यस्त चौबेजी को पता लगा

कि एक व्यक्ति ठाकुरजी के सामने अपने ही भाव में मस्त होकर किसी उत्सव-स्थान पर बर्तन माँजने की भाँति कर्णकटु स्वर में नारद, भरत, हनुमान इत्यादि नामों का ज़ोर-ज़ोर से ऐसे उच्चारण कर रहा है मानो पिण्डदान दे रहा हो। अपने नशे के आनन्द में प्रत्यक्ष विघ्न डालनेवाले व्यक्ति से मर्माहत चौबेजी ने ज़बरदस्त परेशानीपूर्ण स्वर में पूछा, "अरे भाई, उस बेसुर बेताल में क्या चिल्ला रहे हो ?" तुरन्त उत्तर मिला, "सुर-तान की मुझे क्या परवाह ? मैं तो ठाकुरजी के मन को तृप्त कर रहा हूँ।" चौबेजी बोले, "हुँ, ठाकुरजी को क्या तूने ऐसा मूर्ख समझ रखा है ! अरे पागल, तू तो मुझे ही तृप्त नहीं कर पा रहा है, ठाकुरजी क्या मुझसे भी अधिक मूर्ख हैं ?"

भगवान ने अर्जुन से कहा है—"तुम मेरी शरण लो, बस और कुछ करने की आवश्यकता नहीं, मैं तुम्हारा उद्धार कर दूँगा।" भोलाचाँद ने जब लोगों से यह सुना तो बड़ा खुश हुआ; रह-रहकर वह ज़ोर-ज़ोर से कहने लगा, "मैं प्रभु की शरण में आया हूँ, मुझे अब किसका डर ? मुझे अब और कुछ करने की क्या ज़रूरत ?" भोलाचाँद का ख्याल यह था कि इन बातों को इस तरह चिल्ला-चिल्लाकर कहने से ही यथेष्ट भक्ति होती है। और फिर उसके ऊपर बीच-बीच में वह उस चीत्कार से यह भी बतलाता जाता था कि वह हमेशा ही प्रभु के लिए प्राण देने को प्रस्तुत है, और इस भक्ति-डोर में यदि प्रभु स्वयं ही न आ बँधें, तो फिर सब मिथ्या है। उसके पास बैठनेवाले दो-चार मूर्ख साथी भी यही सोचते हैं।

किन्तु भोलाचाँद प्रभु के लिए अपना एक भी उपद्रव छोड़ने को तैयार नहीं है। ओरे, मैं कहता हूँ कि ठाकुरजी क्या ऐसे ही मूर्ख हैं ! इस पर तो भाई हम भी नहीं रीझते !

भोलापुरी एक कट्टर वेदान्ती हैं—सभी बातों में ये अपने ब्रह्मत्व-ज्ञान का परिचय दिया करते हैं। भोलापुरी के चारों ओर यदि लोग अन्नाभाव में हाहाकार करते हों तो यह दृश्य उनको किसी प्रकार विचलित नहीं करता; वे सुख-दुःख की असारता समझा देते हैं। रोग, शोक एवं क्षुधा से चाहे समस्त लोग मरकर ढेर हो जाएँ तो उसमें उनकी कोई हानि नहीं। वे तुरन्त ही आत्मा के अविनश्वरत्व की चिन्ता करने लगते हैं। उनके सामने बलवान यदि दुर्बल को मार भी डाले तो भोलापुरीजी कहते हैं, "आत्मा न मरता है और न मारता ही है," और इतना कहकर इस श्रुति-वाक्य के गम्भीर अर्थ-सागर में डूब जाते हैं। किसी भी प्रकार का कार्य करने में भोलापुरीजी बहुत नाराज़ होते हैं। तंग करने पर वे उत्तर देते हैं कि वे तो पूर्व जन्म में ही उन सब कार्यों को समाप्त कर आए हैं। किन्तु एक बात में आघात पहुँचने से भोलापुरीजी की आत्मैक्यानुभूति की भावना को बड़ा ही विघ्न पहुँचाता है—जिस समय उनकी भिक्षा की मात्रा में किसी प्रकार की कमी हो या गृहस्थ लोग उनकी इच्छानुसार दक्षिणा देने में आनाकानी करते हों, उस समय पुरीजी की राय में गृहस्थ के समान घृणित जीव संसार में और कोई नहीं है। और जो गाँव उन्हें समुचित दक्षिणा नहीं देता, वह गाँव एक क्षण के लिए भी न

जाने क्यों पृथ्वी के बोझ को बढ़ा रहा है—बस यही सोचकर वे आकुल हो जाते हैं।

ये भी ठाकुरजी को हमारी अपेक्षा मूर्ख समझते हैं।

"अरे भाई रामचरण, तुमने लिखना-पढ़ना नहीं सीखा, व्यापार-धन्धा करने की भी तुम्हारी कोई हैसियत नहीं, शारीरिक परिश्रम भी तुम्हारे बस का नहीं, फिर इस पर नशा-भाँग और शैतानी भी नहीं छोड़ते, बोलो तो सही, किस प्रकार तुम अपनी जीविका चलाते हो ?"

रामचरण ने उत्तर दिया, "जनाब, यह तो सीधी-सी बात है; मैं सबको उपदेश देता हूँ।"

रामचरण ने ठाकुरजी को न जाने क्या समझ रखा है ?

---

(२)

लखनऊ शहर में मुहर्रम की बड़ी धूम है। बड़ी मसज़िद—इमामबाड़े में सजावट और रोशनी की बहार का कहना ही क्या ! बेशुमार लोग आ-जा रहे हैं। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी आदि अनेक जाति के स्त्री-पुरुषों की भीड़ की भीड़ आज मुहर्रम देखने को एकत्रित हुई है। लखनऊ शिया लोगों की राजधानी है, आज हज़रत इमाम हसन हुसैन के नाम का आर्तनाद आकाश तक में गूँज रहा है—वह हृदय दहलानेवाला मरसिया, उसके साथ फूट-फूटकर रोना किसके हृदय को द्रवित न कर देगा ! सहस्र वर्ष की प्राचीन करबला की कथा आज फिर जागरित हो उठी है। इन

दर्शकों की भीड़ में दूर गाँव से दो भद्र राजपूत तमाशा देखने आए हैं। ठाकुर साहब—जैसा कि प्रायः गँवैहे जमींदार लोग हुआ करते हैं—निरक्षर भट्ट हैं। लखनऊ की इस्लामी सभ्यता, शीन-काफ़ का शुद्ध उच्चारण, शाइस्ता ज़बान, ढीली शेरवानी, चुस्त पायजामा और पगड़ी, रंग-बिरंगे कपड़ों का लिबास—ये सब आज भी दूर गाँवों में प्रवेश कर वहाँ के ठाकुर लोगों को स्पर्श नहीं कर पाए हैं। अतः ठाकुर लोग सरल और सीधे हैं और हमेशा जवाँमर्द, चुस्त, मुस्तैद और मज़बूत दिलवालों को ही पसन्द करते हैं।

दोनों ठाकुर साहब फाटक पार करके मसजिद के अन्दर प्रवेश करने ही वाले थे कि सिपाही ने उन्हें अन्दर जाने से मना किया। जब उन्होंने इसका कारण पूछा तो सिपाही ने उत्तर दिया, "यह जो दरवाजे के पास मूरत खड़ी देख रहे हो उसे पहले पाँच जूते मारो, तभी भीतर जा सकोगे।" उन्होंने पूछा, "यह मूर्ति किसकी है?" उत्तर मिला, "यह महापापी येजिद की मूरत है। उसने एक हज़ार साल पहले हज़रत हसन हुसैन को कत्ल किया था, इसीलिए आज यह रोना और दुःख जाहिर करना हो रहा है।" सिपाही ने सोचा कि इस लम्बी व्याख्या को सुनकर वे लोग पाँच जूते क्या दस जूते मारेंगे। किन्तु कर्म की गति विचित्र है, राम ने उल्टा समझा—दोनों ठाकुरों ने अपने को उस मूर्ति के चरणों पर लम्बा डाल दिया और भूमिष्ठ हो गद्‌गद स्वर से स्तुति करने लगे, "अन्दर जाने का अब क्या काम है, दूसरे देवता को अब और क्या देखेंगे? शाबास! वास्तव में देवता तो यही है, दे अजिद्!

K03T

साले का ऐस मारेउ कि ई सब सार अबहिन तक रोवत हैं।"
(साले को ऐसा मारा कि ये सब साले अभी तक रोते हैं।)

सनातन हिन्दू धर्म का गगनचुम्बी मन्दिर है—उस मन्दिर के अन्दर जाने के मार्ग भी कितने हैं! और वहाँ है क्या नहीं! वेदान्ती के निर्गुण ब्रह्म से लेकर ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य, चूहे पर सवार गणेशजी, छोटे देवता जैसे षष्ठी, माकाल इत्यादि तथा और भी न जाने क्या क्या वहाँ मौजूद है। फिर वेद, वेदान्त, दर्शन, पुराण एवं तन्त्र में बहुत सी सामग्री है, जिसकी एक एक बात से भवबन्धन टूट जाता है। और लोगों की भीड़ का तो कहना ही क्या, तैंतीस करोड़ लोग उस ओर दौड़ रहे हैं! मुझे भी उत्सुकता हुई, मैं भी दौड़ने लगा। किन्तु यह क्या! मैं तो जाकर देखता हूँ एक अद्भुत काण्ड!! कोई भी मन्दिर के अन्दर नहीं जा रहा है, दरवाजे के पास एक पचास सिरवाली, सौ हाथवाली, दो सौ पेटवाली और पाँच सौ पैरवाली एक मूर्ति खड़ी है! उसी के पैरों के नीचे सब लोट-पोट हो रहे हैं। एक व्यक्ति से कारण पूछने पर उत्तर मिला, "भीतर जो सब देवता हैं, उनको दूर से प्रणाम करने से ही या दो फूल डाल देने से ही उनकी यथेष्ट पूजा हो जाती है। असली पूजा तो इनकी होनी चाहिए जो दरवाजे पर विद्यमान हैं; और जो वेद, वेदान्त, दर्शन, पुराण और शास्त्र सब देख रहे हो उन्हें कभी कभी सुन लो तो भी कोई हानि नहीं, किन्तु इनका हुक्म तो मानना ही पड़ेगा।" तब मैंने फिर पूछा, "इन देवताजी का भला नाम क्या है?" उत्तर मिला, "इनका नाम 'लोकाचार'

है।" मुझे लखनऊ के ठाकुर साहब की बात याद आ गई, "शाबास ! मई 'लोकाचार', सारे का अस मारेउ.........!"

बौने कद के कृष्णव्याल भट्टाचार्य महापण्डित हैं, विश्व-ब्रह्माण्ड के समाचार उनकी उँगलियों पर रहते हैं, उनके शरीर में केवल अस्थि और चर्म मात्र ही अवशेष है; उनके मित्रगण कहते हैं कि कठोर तपस्या से ऐसा हुआ है, पर शत्रुगण कहते हैं कि अन्नाभाव से यह हुआ है ! फिर कुछ मसखरे लोग यह भी कहते हैं कि साल में दो दर्जन बच्चे पैदा करने से शरीर की दशा ऐसी ही हो जाती है। ख़ैर, जो कुछ भी हो, संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो कृष्णव्यालजी न जानते हों, विशेष रूप से चोटी से लेकर नौ द्वारों तक विद्युत्प्रवाह और चुम्बक-शक्ति की गति के विषय में वे सर्वज्ञ हैं। और इस प्रकार के रहस्य-ज्ञाता होने के कारण दुर्गा-पूजा के काम में आनेवाली एक प्रकार की मिट्टी से लेकर कायदा-कानूनसहित पुनर्विवाह एवं दस वर्ष की कुमारी के गर्भाधान तक—समस्त विषयों की वैज्ञानिक व्याख्या करने में वे अद्वितीय हैं। फिर वे प्रमाण भी ऐसे देते हैं जिनको एक बालक तक समझ सकता है,— ऐसे सरल उन्होंने प्रमाण बना दिए हैं ! कहता हूँ कि भारतवर्ष को छोड़कर और अन्यत्र धर्म नहीं है, भारत-वर्ष में ब्राह्मण को छोड़कर धर्म समझने का और कोई अधिकारी नहीं है और ब्राह्मणों में भी कृष्णव्याल के वंशजों को छोड़कर शेष सब कुछ भी नहीं जानते, और कृष्णव्यालों में बौने कदवाले ही सब कुछ हैं !!! इसलिए कृष्णव्यालजी जो कहते हैं वही स्वतःप्रमाण

है। विद्या की बहुत चर्चा हो रही है, लोग कुछ समझदार होते जा रहे हैं, वे सब चीज़ों को समझना चाहते हैं, चखना चाहते हैं, अतः कृष्णव्यालजी सबको भरोसा दे रहे हैं, " भाभी ! — डो मत, जो सब कठिनाइयाँ तुम लोगों के मन में उठ रही हैं, मैं उनकी वैज्ञानिक व्याख्या कर देता हूँ; तुम लोग जैसे थे वैसे ही रहो। नाक में सरसों का तेल डालकर खूब सोओ। केवल मेरी 'दक्षिणा' देना न भूलना।" लोग कहने लगे—"जान बची ! किस बुरी बला से सामना पड़ा था ! नहीं तो उठकर बैठना पड़ता था, चलना-फिरना पड़ता था—क्या मुसीबत !" अतः उन्होंने 'जिन्दा रहो कृष्णव्याल' कहकर दूसरी करवट ले ली। हजारों साल की आदत क्या यों ही छूटती है ? शरीर ऐसा क्यों करने देगा ? हजारों वर्ष की मन की गाँठ क्या यों ही कट जाती है ? इसीलिए कृष्णव्यालजी और उनके दलवालों की ऐसी इज्जत है।

" शाबास, भई ' आदत ', सारे का श्रम मारेउ........।"

रामकृष्ण और उनकी उक्ति *

प्राध्यापक मैक्समूलर पाश्चात्य संस्कृतज्ञ विद्वानों के अधिनायक हैं। जो ऋग्वेद संहिता पहले किसी को भी सम्पूर्ण रूप से प्राप्य नहीं थी, वही आज ईस्ट इंडिया कम्पनी के विपुल द्रव्य-व्यय एवं प्राध्यापक के अनेकों वर्ष के परिश्रम से अति सुन्दर ढंग से मुद्रित होकर सर्वसाधारण को प्राप्य है। भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों से एकत्रित किए गए हस्तलिखित ग्रन्थों में अधिकांश अक्षर विचित्र हैं एवं अनेकों वाक्य अशुद्ध हैं। विशेष महापण्डित होने पर भी एक विदेशी के लिए उन अक्षरों की शुद्धि या अशुद्धि का निर्णय करना तथा स्वल्पाक्षरों से बने हुए जटिल भाष्य का विशद अर्थ समझना कितना कठिन कार्य है, इसका अनुमव हमें सहज ही

---

* प्राध्यापक मैक्समूलर द्वारा लिखित "Ramakrishna : His Life and Sayings" नामक पुस्तक पर स्वामीजी द्वारा लिखी गई समालोचना।

नहीं हो सकता। प्राध्यापक मैक्समूलर के जीवन में यह ऋग्वेद-प्रकाशन एक प्रधान कार्य है। इसके अतिरिक्त, यद्यपि वे आजीवन प्राचीन संस्कृत-साहित्य में ही रहे हैं तथा उसी में जीवन-यापन किया है, फिर भी यह बात नहीं कि उनकी कल्पना में भारतवर्ष आज भी वेद-घोष-प्रतिध्वनित, यज्ञ-धूम्र से आच्छन्न तथा वशिष्ठ-विश्वामित्र-जनक-याज्ञवल्क्य आदि से पूर्ण है तथा वहाँ का प्रत्येक घर ही गार्गी-मैत्रेयी से सुशोभित और श्रौत एवं गृह्यसूत्र के नियमों द्वारा परिचालित है। विजाति-विधर्मी-पददलित, लुप्ताचार, लुप्त-क्रिय, म्रियमाण आधुनिक भारत के किस कोने में कौन कौनसी नई घटनाएँ हो रही हैं इसकी सूचना भी प्राध्यापक महोदय सदैव सचेत रहकर लेते रहे हैं। 'प्राध्यापक महोदय ने भारतवर्ष की जमीन पर कभी पैर नहीं रखा है,' यह कहकर इस देश के बहुत से ऐंग्लो-इंडियन, भारतीय रीति-नीति एवं आचार-व्यवहार के विषय में उनके मतों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। किन्तु इन ऐंग्लो-इंडियनों को यह जान लेना उचित है कि आजीवन इस देश में रहने पर भी अथवा इस देश में जन्म ग्रहण करने पर भी, जिस श्रेणी में वे स्वयं रह रहे हैं केवल उसी का विशेष विवरण जानने के अतिरिक्त अन्य श्रेणियों के विषय में वे सम्पूर्ण अनभिज्ञ ही हैं। विशेषतः, जाति-प्रथा में विभाजित इस वृहत् समाज में एक जाति के लिए अन्य जातियों के आचार और रीति को जानना बड़ा ही कठिन है। कुछ दिन हुए, किसी प्रसिद्ध ऐंग्लो-इंडियन कर्मचारी द्वारा लिखित 'भारताधि-वास' नामक पुस्तक में इस प्रकार का एक अध्याय मैंने देखा है

जिसका शीर्षक है—'देशीय परिवार-रहस्य'। मनुष्य के हृदय में रहस्य जानने की इच्छा प्रबल होती है, शायद इसी उत्सुकता से मैंने उस अध्याय को जब पढ़ा तो देखा कि ऐंग्लो-इंडियन दिग्गज अपने किसी भंगी, भंगिन एवं भंगिन के यार के बीच घटी हुई किसी विशेष घटना का वर्णन करके देशीय जीवन-रहस्य के बारे में अपने स्वजातिवृंदों की एक बड़ी भारी उत्सुकता मिटाने के लिए विशेष प्रयत्नशील हैं, और ऐसा भी प्रतीत होता है कि ऐंग्लो-इंडियन समाज में उस पुस्तक का आदर देखकर वे अपने को पूर्ण रूप से कृतकृत्य समझते हैं। शिवा वः सन्तु पन्थानः —और क्या कहें? किन्तु श्रीभगवान ने कहा है "संगात्संजायते" इत्यादि। जाने दो, यह अप्रासंगिक बात है। फिर भी, आधुनिक भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों की रीति-नीति एवं सामयिक घटनाओं के सम्बन्ध में प्राध्यापक मैक्समूलर के ज्ञान को देखकर हमें विस्मित रह जाना पड़ता है, यह हमारा प्रत्यक्ष अनुभव है।

विशेष रूप से धर्म-सम्बन्धी मामलों में भारत में कहाँ कौनसी नई तरंग उठ रही है, इसका अवलोकन प्राध्यापक ने तीक्ष्ण दृष्टि से किया है तथा पाश्चात्य जगत् उस विषय में जानकारी प्राप्त कर सके इसके लिए भी उन्होंने विशेष प्रयत्न किया है। देवेन्द्रनाथ ठाकुर एवं केशवचन्द्र सेन द्वारा परिचालित ब्राह्मसमाज, स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिष्ठित आर्यसमाज, थियोसॉफी सम्प्रदाय—ये सब प्राध्यापक की लेखनी द्वारा प्रशंसित या निन्दित हुए हैं। प्रसिद्ध 'ब्रह्मवादिन्' तथा 'प्रबुद्ध-भारत' नामक पत्रों में श्रीरामकृष्ण

देव के उपदेशों का प्रचार देखकर एवं ब्राह्म-धर्म-प्रचारक बाबू प्रतापचन्द्र मजूमदार-लिखित श्रीरामकृष्ण देव की जीवनी पढ़कर, प्राध्यापक महोदय श्रीरामकृष्ण की जीवनी से विशेष प्रभावित और आकर्षित हुए। इसी बीच में 'इंडिया हाउस' के लाइब्रेरियन टॉनी महोदय द्वारा लिखित 'रामकृष्ण-चरित' भी इंग्लैंड की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका (Asiatic Quarterly Review) में प्रकाशित हुआ। मद्रास तथा कलकत्ता से अनेक विवरण संग्रह करके प्राध्यापक ने 'नाइन्टीन्थ सेन्चुरी' (Nineteenth Century) नामक अंग्रेजी भाषा की सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्रिका में श्रीरामकृष्ण के जीवन तथा उपदेशों के बारे में एक लेख लिखा। उसमें उन्होंने यह व्यक्त किया कि अनेक शताब्दियों तक प्राचीन मनीषियों तथा आधुनिक काल में पाश्चात्य विद्वानों के विचारों को प्रतिध्वनित मात्र करनेवाले भारतवर्ष में नई भाषा में नूतन महाशक्ति का संचार करके नवीन विचारधारा प्रवाहित करनेवाले इस नए महापुरुष नें उनके चित्त को सहज ही में आकर्षित कर लिया। प्राध्यापक महोदय ने प्राचीन ऋषि, मुनि एवं महापुरुषों की विचारधाराओं का शास्त्रों में अध्ययन किया था और वे उन विचारों से भलीभाँति परिचित थे, किन्तु प्रश्न उठता था कि क्या इस युग में भारत में पुनः वैसी विभूतियों का आविर्भाव सम्भव है? रामकृष्ण-जीवनी ने इस प्रश्न की मानो मीमांसा कर दी और उसने भारत-गत-प्राण इन प्राध्यापक महोदय की भारत की भावी उन्नतिरूपी आशा-लता की जड़ में जल सिंचन कर नूतन जीवन-संचार कर दिया।

पाश्चात्य जगत् में कुछ ऐसे महात्मा हैं जो निश्चित रूप से भारत के हितैषी हैं; किन्तु मैक्समूलर की अपेक्षा भारत का अधिक कल्याण चाहनेवाला यूरोप में कोई है अथवा नहीं, यह मैं नहीं कह सकता। मैक्समूलर केवल भारत-हितैषी ही नहीं वरन् भारत के दर्शन-शास्त्र और भारत के धर्म में भी उनका प्रगाढ़ विश्वास है, और उन्होंने सभों के सम्मुख इस बात को बारम्बार स्वीकार किया है कि अद्वैतवाद धर्मराज्य का श्रेष्ठतम आविष्कार है। जो पुनर्जन्मवाद देहात्मवादी ईसाइयों के लिए भयप्रद है, उसे भी स्वानुभूत कहकर वे उस पर दृढ़ विश्वास करते हैं; यहाँ तक कि उनकी यह धारणा है कि उनका पूर्वजन्म शायद भारत में ही हुआ था। और इस समय यही भय कि भारत में आने पर उनका वृद्ध शरीर शायद सहसा-समुपस्थित पूर्व स्मृतियों के प्रबल वेग को न सह सके, उनके भारत-आगमन में प्रधान प्रतिबन्धक है। फिर भी, जो गृहस्थ हैं—चाहे वे कोई भी हों—उन्हें सब ओर ध्यान रखकर चलना पड़ता है। जब एक सर्वत्यागी उदासीन किसी लोक-निन्दित आचार को विशुद्ध जानकर भी लोक-निन्दा के भय से उसका अनुष्ठान करने में आगा-पीछा करता है तथा जब सांसारिक सफलताओं को 'शूकर-विष्ठा' जानता हुआ भी, प्रतिष्ठा के लोभ से एवं अप्रतिष्ठा के भय से एक कठोर तपस्वी अनेक कार्यों का परिचालन करता है, तब यदि सर्वदा समाज में ही रहनेवाले एक पूज्य एवं आदरणीय गृहस्थ को बहुत ही सावधानी से अपने मन के भावों को प्रकाशित करना पड़ता हो तो इसमें

आश्चर्य ही क्या ? फिर, योग, शक्ति इत्यादि गूढ़ विषयों के बारे में प्राध्यापक बिल्कुल अविश्वासी हों ऐसी बात भी नहीं।

"दार्शनिकों से पूर्ण भारतभूमि में जो अनेकानेक धर्म-तरंगें उठ रही हैं," उन सबका संक्षिप्त विवरण मैक्समूलर ने प्रकाशित किया है; किन्तु दुःख की बात यह है कि बहुत से लोगों ने "उसके रहस्य को ठीक ठीक समझने में असमर्थ होने के कारण अत्यन्त अवांछनीय मत प्रकट किया है।" इस प्रकार की ग़लतफ़हमी को दूर करने के लिए, तथा "भारत के अलौकिक अद्भुत क्रिया-सम्पन्न साधु-संन्यासियों के विरोध में इंग्लैंड तथा अमेरिका के संवाद-पत्रों में प्रकाशित विवरण" के प्रतिवाद के लिए, और "साथ ही साथ यह दिखलाने के लिए कि भारतीय थियॉसॉफी, एसोटेरिक बौद्धमत इत्यादि विजातीय नामवाले सम्प्रदायों में भी कुछ सत्य तथा कुछ जानने योग्य है," * प्राध्यापक मैक्समूलर ने अगस्त सन् १८९६ ई. की 'नाइन्टीन्थ सेंचुरी' नामक मासिक पत्रिका में 'प्रकृत महात्मा' शीर्षक से श्रीरामकृष्ण-चरित्र को यूरोपीय मनीषियों के सामने रखा। उन्होंने इसमें यह भी दिखलाया कि भारतवर्ष केवल पक्षियों की तरह आकाश में उड़नेवाले, पैरों से ज़ल पर चलनेवाले, मछलियों के समान पानी के भीतर रहनेवाले मन्त्र-तन्त्र-टटका-टोना करके रोग-निवारण करनेवाले या से धनिकों की वंश-रक्षा-करनेवाले तथा सुवर्णादि निर्माण

* 'Ramakrishna: His Life and Sayings' by of. Max Muller, pp. 1 and 2.

करनेवाले साधुओं की निवास-भूमि ही नहीं, वरन् वहाँ प्रकृत अध्यात्मतत्त्ववित्, प्रकृत ब्रह्मवित्, प्रकृत योगी और प्रकृत भक्तों की संख्या भी कम नहीं है, तथा समस्त भारतवासी अब भी ऐसे पशुवत् नहीं हो गए हैं कि इन अन्त में बतलाए गए नर-देवों को छोड़कर ऊपर कथित बाजीगरों के चरण चाटने में दिन-रात लगे हुए हों।

यूरोप और अमेरिका के विद्वज्जनों ने अत्यन्त आदर के साथ इस लेख को पढ़ा, और उसके फलस्वरूप श्रीरामकृष्ण देव के प्रति अनेकों की प्रगाढ़ श्रद्धा हो गई। पाश्चात्य सभ्य जातियों ने इस भारतवर्ष को नरमांस-भोजी, नग्न-देह, बलपूर्वक विधवाओं को जला देनेवाले, शिशुघाती, मूर्ख, कापुरुष, सब प्रकार के पाप और अन्धविश्वासों से परिपूर्ण, पशुवत् मनुष्यों का निवास-स्थान समझ रखा था; इस धारणा को उनके मस्तिष्क में जमानेवाले हैं ईसाई पादरीगण, और कहने में शर्म लगती है तथा दुःख भी होता है कि इसमें हमारे कुछ देशवासियों का भी हाथ है। इन दोनों दलों की प्रबल चेष्टा के कारण जो एक घोर अन्धकारपूर्ण जाल पाश्चात्य देशवासियों के सामने फैला हुआ था, वह अब इस लेख के फलस्वरूप धीरे धीरे छिन्न-विच्छिन्न होने लगा है। "जिस देश में श्रीभगवान रामकृष्ण की तरह लोक-गुरु आविर्भूत हुए हैं, वह देश क्या वास्तव में जैसा कलुषित और पापपूर्ण हम लोगों ने सुना है उसी प्रकार का है? अथवा कुचक्रियों ने हम लोगों को इतने दिन तक भारत के तथ्य के सम्बन्ध में महान् भ्रम में डाल रखा था?"—यह प्रश्न आज

अपने आप ही पाश्चात्य लोगों के मन में उदित हो रहा है।

पाश्चात्य जगत् में भारतीय धर्म-दर्शन-साहित्य-सम्राट प्राध्यापक मैक्समूलर ने जिस समय श्रीरामकृष्ण-चरित्र को अनन्त भक्तिपूर्ण हृदय से यूरोप तथा अमेरिकावासियों के कल्याणार्थ संक्षिप्त रूप से 'नाइन्टीन्थ सेंचुरी' नामक पत्रिका में प्रकाशित किया, उस समय पूर्वोक्त दोनों दलों में जो भीषण अन्तर्दाह उत्पन्न हुआ वह बतलाना अनावश्यक है।

मिशनरी लोग हिन्दू देवी-देवताओं का अत्यन्त अनुपयुक्त वर्णन करके यह प्रमाणित करने का भरसक प्रयत्न कर रहे थे कि इनके उपासकों में सच्चे धार्मिक व्यक्तियों का कभी भी आविर्भाव नहीं हो सकता। किन्तु प्रबल वायुवेग के सामने जिस प्रकार तिनके उड़ जाते हैं उसी प्रकार उनकी चेष्टाएँ भी उड़ गईं; और आज पूर्वोक्त स्वदेशी सम्प्रदाय श्रीरामकृष्ण की शक्ति-सम्प्रसारणरूप प्रबल अग्नि को बुझाने के उपाय सोचते सोचते हताश हो गया है। ईश्वरीय शक्ति के सामने भला जीव की शक्ति कहाँ!

स्वभावतः, दोनों ओर से प्राध्यापक महोदय पर प्रबल आक्रमण होने लगा; किन्तु ये वयोवृद्ध सज्जन हटनेवाले नहीं थे,— इस प्रकार के संग्राम में वे अनेक बार विजयी हुए थे। इस समय भी आततायियों को परास्त करने के लिए तथा इस उद्देश्य से कि श्रीरामकृष्ण और उनके धर्म को सर्वसाधारण अच्छी तरह समझ सकें, उन्होंने उनकी जीवनी और उपदेश ग्रन्थरूप में लिखने के लिए पहले से भी अधिक सामग्री संग्रह की तथा 'रामकृष्ण और उनकी

उक्ति' नामक पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक के 'रामकृष्ण' नामक अध्याय में उन्होंने निम्नलिखित बातें प्रकट की हैं :—

"उक्त महापुरुष की इस समय यूरोप तथा अमेरिका में बहुत ख्याति एवं प्रतिष्ठा हुई है, वहाँ उनके शिष्यगण अदम्य उत्साह के साथ उनके उपदेशों का प्रचार कर रहे हैं और अनेक व्यक्तियों को, यहाँ तक कि, ईसाइयों में से भी बहुतों को श्रीरामकृष्ण के मत में ला रहे हैं। यह बात हमारे लिए बहुत ही आश्चर्यजनक है और इस पर हम कठिनता से विश्वास कर सकते हैं.... तथापि प्रत्येक मानव-हृदय में धर्म-पिपासा बलवती होती है, प्रत्येक हृदय में प्रबल धर्म-क्षुधा विद्यमान रहती है, जो शीघ्र ही या कुछ देर में शान्त हो जाना चाहती है। इन सब क्षुधार्त व्यक्तियों के लिए रामकृष्ण का धर्म किसी प्रकार के बाह्य शासनाधीन न होने के कारण और, इसके फलस्वरूप, अत्यन्त उदार होने के कारण अमृत के समान ग्राह्य है। अतएव, रामकृष्ण-धर्मावलम्बियों की एक बहुत बड़ी संख्या के बारे में हम जो सुनते हैं, वह शायद किसी अंश तक अतिरंजना भले ही हो, पर फिर भी, जो धर्म आधुनिक समय में इस प्रकार सिद्धि-लाभ कर चुका है, जो विस्तृत होने के साथ साथ अपने को सम्पूर्ण सत्यता के साथ संसार का प्राचीनतम धर्म एवं दर्शन कहकर घोषित करता है तथा जो वेदान्त अर्थात् वेद के सर्वोच्च उद्देश्य के नाम से परिचित है, वह हमारे लिए अत्यन्त आदर और श्रद्धा के साथ विचारणीय एवं चिन्तनीय है।" *

* Ibid, pp. 10 and 11.

इस पुस्तक के आरम्भ में प्राध्यापक महोदय ने 'महात्मा' पुरुष, आश्रम-विभाग, संन्यासी, योग, दयानन्द सरस्वती, पवहारी बाबा, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, राधास्वामी सम्प्रदाय के नेता—राय शालिग्राम साहब बहादुर इत्यादि का भी उल्लेख किया है।

प्राध्यापक महोदय इस बात से विशेष सशंकित थे कि साधारणतया समस्त ऐतिहासिक घटनाओं के वर्णन में, लेखक के व्यक्तिगत अनुराग या उदासीनता के कारण, कभी कभी जो त्रुटियाँ अपने आप ही घुस जाती हैं, वे कहीं इस जीवनी के अन्दर भी तो नहीं आ गई हैं। इसलिए घटनाओं का संग्रह करने में उन्होंने विशेष सावधानी से काम लिया। वर्तमान लेखक (स्वामी विवेकानन्द) श्रीरामकृष्ण का क्षुद्र दास है—इसके द्वारा संकलित रामकृष्ण-जीवनी के उपादान यद्यपि प्राध्यापक की युक्ति एवं बुद्धिरूपी मथानी से भलीभाँति मथ लिए गए हैं, परन्तु फिर भी उन्होंने (मैक्समूलर ने) कह ही दिया है कि भक्ति के आवेश में कुछ अतिरंजना होना सम्भव हो सकता है। और ब्राह्मधर्म-प्रचारक श्रीयुत बाबू प्रतापचन्द्र मजूमदारप्रमुख व्यक्तियों ने श्रीरामकृष्ण के दोष दिखलाते हुए प्राध्यापक को जो कुछ लिखा है, उसके प्रत्युत्तर में उन्होंने जो दो-चार कठोर-मधुर बातें कही हैं, वह दूसरों की उन्नति पर ईर्ष्या करनेवाली बंगाली जाति के लिए विशेष विचारणीय है—इसमें कोई सन्देह नहीं।

इस पुस्तक में श्रीरामकृष्ण की जीवनी अत्यन्त संक्षेप में तथा सरल भाषा में वर्णित की गई है। इस जीवनी में सावधान लेखक

ने प्रत्येक बात मानो तौलकर लिखी है,—'प्रकृत महात्मा' नामक लेख में स्थान स्थान पर जिन अग्नि-स्फुलिंगों को हम देखते हैं, वे इस लेख में अत्यन्त सावधानी के साथ संयत रखे गए हैं। एक ओर है मिशनरियों की हलचल और दूसरी ओर, ब्राह्म-समाजियों का कोलाहल,—इन दोनों के बीच में से होकर प्राध्यापक की नाव चल रही है। 'प्रकृत महात्मा' नामक लेख पर दोनों दलों द्वारा अनेक तिरस्कार तथा कठोर वचन भेजे गए; किन्तु हर्ष का विषय है कि न तो उनके प्रत्युत्तर की चेष्टा की गई है और न अभद्रता का दिग्दर्शन ही किया गया है,—गाली-गलौज करना तो इंग्लैण्ड के भद्र लेखक जानते ही नहीं। प्राध्यापक महोदय ने, वयस्क महा-पण्डित को शोभा देनेवाले धीर-गम्भीर विद्वेष-शून्य एवं वज्रवत् दृढ़ स्वर में, इन महापुरुष के अलौकिक हृदयोत्थित अमानव भाव पर किए गए आक्षेपों का आमूल खंडन कर दिया है।

इन आक्षेपों को सुनकर हमें सचमुच आश्चर्य होता है। ब्राह्म-समाज के गुरु स्वर्गीय आचार्य श्री केशवचन्द्र सेन के मुख से हमने सुना है कि "श्रीरामकृष्ण की सरल मधुर ग्राम्य भाषा अत्यन्त अलौकिक तथा पवित्रता से पूर्ण है, हम जिन्हें कुछ अश्लील कहते हैं ऐसे शब्दों का उसमें कहीं कहीं समावेश होने पर भी उनके अपूर्व बालवत् कामगन्धहीन स्वभाव के कारण, उन सब शब्दों का प्रयोग दोषपूर्ण न होकर आभूषणस्वरूप हुआ है।" किन्तु खेद है कि उनकी भाषा पर यही एक प्रबल आक्षेप है।

दूसरा आक्षेप यह है कि उन्होंने संन्यास ग्रहण कर अपनी

स्त्री के प्रति निष्ठुर व्यवहार किया था। इस पर प्राध्यापक महोदय का उत्तर है कि उन्होंने स्त्री की अनुमति लेकर ही संन्यासव्रत धारण किया था, तथा जब तक वे इस लोक में रहे तब तक उन्हीं के सदृश उनकी चिरब्रह्मचारिणी पत्नी भी उन्हें गुरु-रूप में ग्रहण करके अपनी इच्छा से, परम आनन्दपूर्वक उनके उपदेशानुसार भगवत्-सेवा में लगी रहीं। प्राध्यापक महोदय ने यह भी कहा है, "शरीर-सम्बन्ध के बिना पति-पत्नी में प्रेम क्या असम्भव है!" "हमें हिन्दू के सत्य-संकल्प पर विश्वास करना ही पड़ेगा" कि शरीर-सम्बन्ध न रखते हुए ब्रह्मचारिणी पत्नी को अमृतस्वरूप ब्रह्मानन्द का भागी बनाकर ब्रह्मचारी पति परम पवित्रता के साथ जीवन-यापन कर सकता है, "यद्यपि इस विषय में उक्त व्रत-धारण करनेवाले यूरोप-निवासी सफल नहीं हुए हैं।" * प्राध्यापक महोदय पर पुष्प-वृष्टि हो! वे दूसरी जाति के तथा विदेशी होकर भी हमारे एकमात्र धर्म-सहायक ब्रह्मचर्य को समझ सकते हैं, एवं यह विश्वास करते हैं कि आज भी भारतवर्ष में ऐसे दृष्टान्त विरले नहीं हैं,—जब कि हमारे अपने ही घर के वीर कहलानेवाले लोग पाणिग्रहण में शरीर-सम्बन्ध के अतिरिक्त और कुछ नहीं देख सकते!! यादृशी भावना यस्य....!

फिर एक अभियोग यह है कि वे वेश्याओं से अत्यन्त घृणा नहीं करते थे। इस पर प्राध्यापक ने बड़ा ही मधुर उत्तर दिया है। उन्होंने कहा है कि केवल रामकृष्ण ही नहीं, वरन् अन्यान्य धर्म-

* Ibid, pp. 65.

प्रवर्तकगण भी इस 'अपराध' के दोषी हैं ! अहा ! कैसी मधुर बात है !—यहाँ पर हमें श्रीभगवान बुद्धदेव की कृपापात्री वेश्या अम्बापाली और हज़रत ईसा को दयाप्राप्ता सामरीया नारी की बात याद आती है ।

फिर एक अभियोग यह भी है कि उन्हें शराब पीने की आदत पर भी घृणा न थी । हरे ! हरे ! ज़रा सी शराब पीने पर उस आदमी की परछाई भी अस्पृश्य है—यही हुआ न मतलब !—सचमुच, यह तो बहुत बड़ा अभियोग है ! नशेबाज़, वेश्या, चोर और दुष्टों को महापुरुषगण घृणा से क्यों नहीं भगा देते थे ! और आँख मूँदकर, चलती भाषा में जिसे कहते हैं, नौबत की सुर की तरह ऊपर ही ऊपर उनसे बातें क्यों नहीं करते थे ! और सबसे बड़ा अभियोग तो यह था कि उन्होंने आजन्म स्त्री-संग क्यों नहीं किया !!!

आक्षेप करनेवालों की इस विचित्र पवित्रता एवं सदाचार के आदर्शानुसार जीवन न गढ़ सकने से ही भारत रसातल में चला जायगा !! जाय रसातल में, यदि इस प्रकार की नीति का सहारा लेकर उसे उठना हो ।

इस पुस्तक में जीवनी की अपेक्षा उक्ति-संग्रह * ने अधिक स्थान लिया है । इन उक्तियों ने समस्त संसार के अंग्रेज़ी पढ़नेवाले

* भगवान श्रीरामकृष्ण देव की सम्पूर्ण उक्तियाँ 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' के रूप में तीन भागों में श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर द्वारा प्रकाशित की गई हैं । विस्तृत विवरण के लिए अन्तिम पृष्ठ देखिए ।

लोगों को आकर्षित कर लिया है, और यह बात इस पुस्तक की हाथों-हाथ बिक्री देखने से ही प्रमाणित हो जाती है। ये उक्तियाँ भगवान श्रीरामकृष्ण देव के श्रीवचन होने के कारण महान् शक्ति-पूर्ण हैं, और इसीलिए ये निश्चय ही समस्त देशों में अपनी ईश्वरीय शक्ति का विकास करेंगी। "बहुजनहिताय बहुजनसुखाय" महा-पुरुषगण अवतीर्ण होते हैं—उनके जन्म-कर्म अलौकिक होते हैं और उनका प्रचार-कार्य भी अत्यन्त आश्चर्यजनक होता है।

और हम सब ? जिस निर्धन ब्राह्मण-कुमार ने अपने जन्म के द्वारा हमें पवित्र बनाया है, कर्म के द्वारा हमें उन्नत किया है एवं वाणी के द्वारा राजजाति (अंग्रेजों) की भी प्रेमदृष्टि हमारी ओर आकर्षित की है, हम लोग उनके लिए क्या कर रहे हैं ? सत्य सभी समय मधुर नहीं होता, किन्तु तो भी समयविशेष में कहना ही पड़ता है—हममें से कोई कोई समझ रहे हैं कि उनके जीवन एवं उपदेशों द्वारा हमारा लाभ हो रहा है, किन्तु बस यहीं तक। इन उपदेशों को जीवन में परिणत करने की चेष्टा भी हमसे नहीं हो सकती—फिर उनके (श्रीरामकृष्ण के) द्वारा उत्तोलित ज्ञान-भक्ति की महातरंग में अंग-विसर्जन करना तो बहुत दूर की बात है। जिन लोगों ने इस खेल को समझा है या समझने की चेष्टा कर रहे हैं, उनसे हमारा यह कहना है कि केवल समझने से क्या होगा ? समझने का प्रमाण तो प्रत्यक्ष कार्य है। केवल ज़बान से यह कह देने से कि हम समझ गए या विश्वास करते हैं, क्या दूसरे लोग भी तुम पर विश्वास करेंगे ? हृदय की समस्त भावनाएँ ही फलदायिनी

होती हैं; कार्य में उनको परिणत करो जिससे संसार देख सके।

जो लोग अपने को महापण्डित समझकर इस निरक्षर, निर्धन, साधारण पुजारी ब्राह्मण के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित करते है, उनसे हमारा यह निवेदन है कि जिस देश के एक अपढ़ पुजारी ने अपने शक्तिबल से अत्यन्त अल्प समय में अपने पूर्वजों के सनातन धर्म की जयघोषणा सात समुद्र पार तक समस्त जगत् में प्रतिध्वनित कर दी है, उसी देश के आप सब लोग सर्वमान्य शूर वीर महा-पण्डित हैं—आप लोग तो फिर इच्छामात्र से स्वदेश एवं स्वजाति के कल्याण के लिए और भी अनेक अद्भुत कार्य कर सकते हैं। तो फिर उठिये, अपने को प्रकाश में लाइये, महाशक्ति के खेल को दिखलाइये—हम सब पुष्प-चन्दन लेकर आप लोगों की पूजा करने के लिए खड़े हैं; हम तो मूर्ख, क्षुद्र, नगण्य भिक्षुक हैं; और आप सब महाराज, महाबली, महाकुलवाले तथा सर्वविद्यासम्पन्न हैं—आप सब उठिये, आगे बढ़िये, मार्ग दिखलाइये, संसार के हित के लिए सर्वस्व त्याग करिये—हम दास की तरह आपके पीछे पीछे चलेंगे।

और जो लोग श्रीरामकृष्ण के नाम की प्रतिष्ठा एवं प्रभाव को देखकर दास-जाति की तरह ईर्ष्या एवं द्वेष के कारण वैमनस्य प्रकट कर रहे हैं, उनसे हमारा यही कहना है कि भाई, तुम्हारी ये सब चेष्टाएँ व्यर्थ हैं। यदि यह दिग्दिगन्तव्यापी महाधर्मतरंग—जिसके शुभ्र शिखर पर इस महा-पुरुष की मूर्ति विराजमान है—हमारे धन, यश या प्रतिष्ठा-लाभ की चेष्टा का फल हो, तो फिर तुम्हारे या अन्य किसी के लिए कोई

प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है, महामाया के अप्रतिहत नियम के प्रभाव से शीघ्र ही यह तरंग महाजल में अनन्त काल के लिए विलीन हो जायगी ! और यदि जगदम्बा-परिचालित इस महापुरुष की निःस्वार्थ प्रेमोच्छ्वासरूपी इस तरंग ने जगत् को प्लावित करना आरम्भ कर दिया हो, तो फिर हे क्षुद्र मानव, तुम्हारी क्या हस्ती कि माता के शक्ति-संचार का रोध कर सको ?

प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है,
प्रभाव से शीघ्र ही यह तरंग
विलीन हो जायगी ! और यदि
की निःस्वार्थ प्रेमोच्छ्वासरूपी
आरम्भ कर दिया हो, तो
कि माता के शक्ति-संचार

पुनः प्रसारित होता है; और यह भी लिखा है कि अष्टांग योगादि के द्वारा, ईश्वर की भक्ति के द्वारा, निष्काम कर्म के द्वारा अथवा ज्ञान-चर्चा के द्वारा अन्तर्निहित अनन्त शक्ति एवं ज्ञान का विकास होता है।

दूसरी ओर आधुनिक लोग अनन्त स्फूर्ति के आधारस्वरूप मानव-मन को देख रहे हैं। सभी की यह धारणा है कि उपयुक्त देश-काल-पात्र के अनुसार ही ज्ञान की स्फूर्ति होगी। फिर, पात्र की शक्ति से देश-काल की विडम्बना का भी अतिक्रमण किया जा सकता है। कु-देश या कु-समय में पड़ जाने पर भी योग्य व्यक्ति बाधाओं को दूर कर अपनी शक्ति का विकास कर सकता है। अब तो, पात्र के ऊपर, अधिकारी के ऊपर जो सब उत्तरदायित्व लाद दिया गया था, वह भी कम होता जा रहा है। कल की बर्बर जातियाँ भी आज अपने प्रयत्न से सभ्य एवं ज्ञानवान होती जा रही हैं—निम्न श्रेणी के लोग भी अप्रतिहत शक्ति से उच्चतम पदों पर प्रतिष्ठित हो रहे हैं। निरामिष आहार करनेवाले माता-पिता की सन्तान भी विनयशील एवं विद्वान् हुई है। सन्थालों के वंशज भी अंग्रेजों की कृपा से अन्य भारतीय विद्यार्थियों के साथ होड़ ले रहे हैं। वंशानुगत गुणों पर प्रतिष्ठित अधिकार भी दिनोंदिन आधारहीन प्रमाणित होता जा रहा है।

एक सम्प्रदाय के लोग ऐसे हैं, जिनका विश्वास है कि प्राचीन महापुरुषों का उद्देश्य वंशपरम्परा से केवल उन्हीं को प्राप्त हुआ है, एवं सब विषयों के ज्ञान का एक निर्दिष्ट भंडार अनन्त काल से विद्यमान है और वह भंडार उनके पूर्वजों के ही अधिकार

केवल कुछ व्यक्ति ही 'जिन' हो सकते हैं, उनके अतिरिक्त और कोई भी 'जिन' नहीं हो सकता, बहुत से लोग केवल मुक्ति तक ही पहुँच सकते हैं। बुद्ध नामक अवस्था की प्राप्ति सभी को हो सकती है। ब्रह्मादि केवल पदवीविशेष हैं, प्रत्येक जीव इन पदों को प्राप्त कर सकता है। ज़रतुष्ट्र, मूसा, ईसा, मुहम्मद ये सभी महापुरुष थे। किसी विशेष कार्य के लिये ही इनका आविर्भाव हुआ था। पौराणिक अवतारों का आविर्भाव भी इसी प्रकार हुआ था। उस आसन की ओर जन-साधारण का लालसापूर्ण दृष्टिपात करना अनधिकार चेष्टा है।

आदम ने फल खाकर ज्ञान प्राप्त किया। 'नू' (Noah) ने जिहोवा देव की कृपा से सामाजिक शिल्प सीखा। भारतवर्ष में देवगण या सिद्ध पुरुष ही समस्त शिल्पों के अधिष्ठाता माने गए हैं; जूता सीने से लेकर चण्डी-पाठ तक प्रत्येक कार्य अलौकिक पुरुषों की कृपा से ही सम्पन्न होता है। "गुरु बिन ज्ञान नहीं," श्रीगुरु-मुख से निःसृत हुए बिना, श्रीगुरु की कृपा हुए बिना शिष्य-परम्परा में इस ज्ञानबल के संचार का और कोई उपाय नहीं है।

फिर दार्शनिक—वेदान्तिक—कहते हैं, ज्ञान मनुष्य की स्वभाव-सिद्ध सम्पत्ति है—आत्मा की प्रकृति है; यह मानव-आत्मा ही अनन्त ज्ञान का आधार है, उसे कौन सिखला सकता है? सुकर्म के द्वारा, इस ज्ञान के ऊपर जो एक आवरण पड़ा हुआ है, वह केवल हट जाता है; अथवा यह 'स्वतःसिद्ध ज्ञान' अनाचार से संकुचित हो जाता है तथा ईश्वर की कृपा से सदाचार के द्वारा

पुनः प्रसारित होता है; और यह भी लिखा है कि अर्थात योगादि के द्वारा, ईश्वर की भक्ति के द्वारा, निष्काम कर्म के द्वारा अथवा ज्ञान-चर्चा के द्वारा अन्तर्निहित अनन्त शक्ति एवं ज्ञान का विकास होता है।

दूसरी ओर आधुनिक लोग अनन्त स्फूर्ति के आधारस्वरूप मानव-मन को देख रहे हैं। सभी की यह धारणा है कि उपर्युक्त देश-काल-पात्र के अनुसार ही ज्ञान की स्फूर्ति होगी। फिर, पात्र की शक्ति से देश-काल की विडम्बना का भी अतिक्रमण किया जा सकता है। कु-देश या कु-समय में पड़ जाने पर भी योग्य व्यक्ति बाधाओं को दूर कर अपनी शक्ति का विकास कर सकता है। अब तो, पात्र के ऊपर, अधिकारी के ऊपर जो सब उत्तरदायित्व लाद दिया गया था, वह भी कम होता जा रहा है। कल की बर्बर जातियाँ भी आज अपने प्रयत्न से सभ्य एवं ज्ञानवान होती जा रही हैं—निम्न श्रेणी के लोग भी अप्रतिहत शक्ति से उच्चतम पदों पर प्रतिष्ठित हो रहे हैं। निरामिष आहार करनेवाले माता-पिता की सन्तान भी विनयशील एवं विद्वान् हुई है। सन्थालों के वंशज भी अंग्रेजों की कृपा से अन्य भारतीय विद्यार्थियों के साथ होड़ ले रहे हैं। वंशानुगत गुणों पर प्रतिष्ठित अधिकार भी दिनोंदिन आधारहीन प्रमाणित होता जा रहा है।

एक सम्प्रदाय के लोग ऐसे हैं, जिनका विश्वास है कि प्राचीन महापुरुषों का उद्देश्य वंशपरम्परा से केवल उन्हीं को प्राप्त हुआ है, एवं सब विषयों के ज्ञान का एक निर्दिष्ट भंडार अनन्त काल से विद्यमान है और वह भंडार उनके पूर्वजों के ही अधिकार

में था। अतः वे ही उसके उत्तराधिकारी हैं, जगत् के पूज्य हैं। यदि इन लोगों से पूछा जाय कि जिनके ऐसे पूर्वज नहीं हैं, उनके लिए क्या उपाय है?—तो उत्तर मिलता है, "कुछ भी नहीं।" पर इनमें से जो अपेक्षाकृत दयालु हैं, वे उत्तर देते हैं—"हमारी चरणसेवा करो, उस सुकृत के फलस्वरूप अगले जन्म में हमारे वंश में जन्म ग्रहण करोगे।" और इन लोगों से यदि यह कहा जाय, "आधुनिक काल में जो अनेक आविष्कार हो रहे हैं, उन्हें तो तुम लोग नहीं जानते हो और न कोई ऐसा प्रमाण ही मिलता है कि तुम्हारे पूर्वजों को ये सब ज्ञात थे," तो वे कह उठते हैं, "हमारे पूर्वजों को ये सब ज्ञात थे, पर अब इनका लोप हो गया है। यदि इसका प्रमाण चाहिए तो अमुक-अमुक श्लोक देखो,—"

यह कहने की ज़रूरत नहीं कि प्रत्यक्षवादी आधुनिक लोग इन सब बातों पर विश्वास नहीं करते।

अपरा एवं परा विद्या में विभेद अवश्य है, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान में विभिन्नता अवश्य है; यह हो सकता है कि एक का पथ दूसरे का न हो सके, एक उपाय के अवलम्बन से सब प्रकार के ज्ञान-राज्य का द्वार न खुल सके, किन्तु वह अन्तर केवल उच्चता के तारतम्य में है, केवल अवस्थाओं के भेद में है। उपायों के अनुसार ही लक्ष्य-प्राप्ति होती है। वास्तव में वही एक अखण्ड समस्त ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त है।

इस प्रकार स्थिर सिद्धान्त हो जाने पर कि 'ज्ञान-मात्र पर केवल कुछ विशेष पुरुषों का ही अधिकार है तथा ये सब विशेष पुरुष ईश्वर या प्रकृति या कर्म से निर्दिष्ट होकर यथासमय जन्म-ग्रहण करते हैं, और इसके अतिरिक्त किसी भी विषय में ज्ञान-लाभ करने का और कोई उपाय नहीं है', समाज से उद्योग तथा उत्साह आदि का लोप हो जाता है, आलोचना के अभाव के कारण उद्-भावनी शक्ति का क्रमशः नाश हो जाता है तथा नूतन वस्तु की जानकारी में फिर किसी को उत्सुकता नहीं रह जाती, और यदि होने का उपाय भी हो तो समाज उसे रोककर धीरे धीरे नष्ट कर देता है। यदि यही सिद्धान्त स्थिर हुआ कि सर्वज्ञ व्यक्तिविशेष के द्वारा ही अनन्त काल के लिए मानव के कल्याण का पथ निर्दिष्ट हुआ है, तो ऐसा होने से समाज, उन सब निर्देशों में तिलमात्र भी व्यतिक्रम होने पर सर्वनाश की आशंका से, कठोर शासन के द्वारा मनुष्यों को उस नियत मार्ग पर ले जाने की चेष्टा करता है। यदि समाज इसमें सफल हुआ तो परिणामस्वरूप मनुष्य यन्त्रवत् बन जाता है। जीवन का प्रत्येक कार्य ही यदि पहले से निर्दिष्ट हुआ हो तो फिर विचार-शक्ति की विशद आलोचना का प्रयोजन ही क्या ? उद्-भावनी शक्ति का प्रयोग न होने पर धीरे धीरे उसका लोप हो जाता है एवं तमोगुणपूर्ण जड़ता समाज को आ घेरती है, और वह समाज धीरे धीरे अवनति की ओर जाने लगता है।

दूसरी ओर, सर्वप्रकार से निर्देशविहीन होने पर ही यदि कल्याण होना सम्भव होता, तो फिर सभ्यता एवं संस्कृति चीन,

हिन्दू, मिश्र, बेबीलोन, ईरान, ग्रीस, रोम एवं अन्य महान् देशों के निवासियों को त्यागकर जुलू, हबशी, हटेन्टॉट, सन्थाल, अन्दमान तथा आस्ट्रेलियानिवासी जातियों का ही आश्रय ग्रहण करतीं।

अतएव महापुरुषों द्वारा निर्दिष्ट पथ का भी गौरव है, गुरु-परम्परागत ज्ञान का भी एक विशेष प्रयोजन है, और यह भी एक चिरन्तन सत्य है कि ज्ञान में सर्व-अन्तर्यामित्व है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेम के उच्छ्वास में अपने को भूलकर भक्तगण उन महापुरुषों के उद्देश्य को न अपनाकर उनकी उपासना को ही एकमात्र ध्येय समझने लगते हैं; तथा स्वयं हतश्री हो जाने पर मनुष्य स्वाभाविकतया पूर्वजों के ऐश्वर्य-स्मरण में ही समय बिताता रहता है—यह भी एक प्रत्यक्ष प्रमाणित बात है। भक्तिपूर्ण हृदय सम्पूर्णतया पूर्वपुरुषों के चरणों पर आत्मसमर्पण कर स्वयं दुर्बल बन जाता है, और यही दुर्बलता फिर आगे चलकर शक्तिहीन गर्वित हृदय को पूर्वजों की गौरव-गाथा को ही जीवन का आधार बना लेने की शिक्षा देती है।

पूर्ववर्ती महापुरुषों को सभी विषयों का ज्ञान था, और समय के फेर से उस ज्ञान का अधिकांश अब लुप्त हो गया है—यह बात सत्य होने पर भी यही सिद्धान्त निकलेगा कि उसके लोप होने के कारण-स्वरूप आज के तुम लोगों के पास उस विलुप्त ज्ञान का होना या न होना एक-सी ही बात है; और यदि तुम उसे पुनः सीखना चाहते हो तो तुम्हें फिर से नया प्रयत्न करना होगा, फिर से परिश्रम करना होगा।

आध्यात्मिक ज्ञान, जो विशुद्ध हृदय में अपने आप ही स्फुरित होता है, वह भी चित्तशुद्धिरूप बहु प्रयास एवं परिश्रम साध्य है। आधिभौतिक ज्ञान के क्षेत्र में भी जो सब महान् सत्य मानव-हृदय में परिस्फुरित हुए हैं, अनुसन्धान करने पर पता चलता है कि वे सब सहसा उद्भूत दीप्ति की भाँति मनीषियों के ही मन में उदित हुए हैं, जंगली असभ्य मनुष्यों के मन में नहीं। इसी से यह सिद्ध हो जाता है कि आलोचना, विद्या-चर्चा एवं मनन-रूप कठोर तपस्या ही उसका कारण है।

अलौकिकत्वरूप जो सब अद्भुत विकास है, चिरोपार्जित लौकिक चेष्टा ही उसका कारण है; लौकिक और अलौकिक में भेद केवल प्रकाश के तारतम्य में है।

महापुरुषत्व, ऋषित्व, अवतारत्व या लौकिक-विद्या में शूरत्व सभी जीवों में विद्यमान है। उपयुक्त गवेषणा एवं समयानुकूल परिस्थिति के प्रभाव से यह पूर्णता प्रकट हो जाती है। जिस समाज में इस प्रकार के पुरुषसिंहों का एक बार आविर्भाव हो गया है, वहाँ पुनः मनीषियों का अभ्युत्थान अधिक सम्भव है। जो समाज गुरु द्वारा प्रेरित है, वह अधिक वेग से उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं; किन्तु जो समाज गुरु-विहीन है, उसमें भी समय की गति के साथ गुरु का उदय तथा ज्ञान का विकास होना उतना ही निश्चित है।

पैरिस-प्रदर्शनी *

कई दिन तक पैरिस-प्रदर्शनी में "कॉंग्रे डे' लिस्तोयार दि रिलिजिओं" अर्थात् धर्मेतिहास नामक सभा का अधिवेशन हुआ। उस सभा में अध्यात्मविषयक एवं मतामतसम्बन्धी किसी भी प्रकार की चर्चा के लिए स्थान न था; केवल विभिन्न धर्मों का इतिहास अर्थात् उनके अंगों का तथ्यानुसन्धान ही उसका उद्देश्य था। अतः इस सभा में विभिन्न धर्मप्रचारक-सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों का पूर्ण अभाव था। शिकागो महासभा एक विराट् चीज़ थी। अतः उस सभा में विभिन्न देशों की धर्मप्रचारक-मण्डलियों के प्रतिनिधि उपस्थित थे, पर पैरिस की इस सभा में केवल वे ही पण्डितगण आये थे, जो भिन्न भिन्न धर्मों की उत्पत्ति के विषय में आलोचना किया करते हैं। शिकागो धर्मसभा में रोमन कैथलिकों का प्रभाव विशेष था और उन्होंने अपने

* पैरिस-प्रदर्शनी में अपने भाषण का विवरण स्वामीजी ने स्वयं 'उद्बोधन' पत्र के लिए भेजा था।

सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा के लिए बड़ी आशा से उसका संचालन किया था। उन्हें आशा थी कि वे बिना विशेष विरोध का सामना किए ही प्रोटेस्टेन्टों पर अपना प्रभाव एवं अधिकार जमा लेंगे। उस महासभा में उपस्थित ईसाई, हिन्दू, बौद्ध, मुसल्मान तथा संसार के अन्य धर्म-प्रतिनिधियों के समक्ष अपनी गौरव-घोषणा कर और सर्वसाधारण के सम्मुख अन्य सब धर्मों की बुराइयाँ दर्शाकर उन्होंने अपने सम्प्रदाय को सुदृढ़ रूप से प्रतिष्ठित करने का निश्चय किया था। पर परिणाम कुछ और ही हो जाने के कारण ईसाई-जगत् सर्वधर्म-समन्वय के सम्बन्ध में बिल्कुल ही हताश हो गया है। इसलिए रोमन कैथलिक अब दुबारा इस प्रकार की धर्मसभा दुहराने के विशेष विरोधी हैं। फ्रान्स देश कैथलिक-प्रधान है, अतः यद्यपि अधिकारियों की यथेष्ट इच्छा थी कि यह सभा धर्मसभा हो, पर समग्र कैथलिक-जगत् के विरोध के कारण यह धर्मसभा न हो सकी।

जिस प्रकार समय समय पर Congress of Orientalists अर्थात् संस्कृत, पाली और अरबी इत्यादि भाषाविज्ञ विद्वानों की सभा हुआ करती है, वैसी ही पैरिस की यह धर्मसभा भी थी, इसमें केवल ईसाई धर्म का पुरातत्व और जोड़ दिया गया था।

जम्बु द्वीप से केवल दो-तीन जापानी पण्डित आए थे। भारत से स्वामी विवेकानन्द उपस्थित थे।

अनेक पाश्चात्य संस्कृतज्ञों का यही मत है कि वैदिक धर्म की उत्पत्ति अग्नि-सूर्यादि प्राकृतिक आश्चर्यजनक जड़ वस्तुओं की उपासना से हुई है।

उक्त मत का खंडन करने के लिए स्वामी विवेकानन्द पेरिस धर्मेतिहास सभा द्वारा निमन्त्रित हुए थे और उन्होंने उक्त विषय पर एक लेख पढ़ने के लिए अपनी सम्मति दी थी। किन्तु प्रबल शारीरिक अस्वस्थता के कारण वे लेख न लिख सके थे; किसी प्रकार सभा में वे उपस्थित मात्र हो गए थे। स्वामीजी के वहाँ पर पदार्पण करते ही यूरोप के समस्त संस्कृतज्ञ पण्डितों ने उनका सादर प्रेम-पूर्वक स्वागत किया। इस भेंट के पहले ही वे लोग स्वामीजी द्वारा रचित पुस्तकों को पढ़ चुके थे।

उस समय उक्त सभा में ओपर्ट नामक एक जर्मन पण्डित ने शालग्राम शिला की उत्पत्ति के विषय में एक लेख पढ़ा था। उसमें उन्होंने शालग्राम की उत्पत्ति 'योनि' चिह्न के रूप में निर्धारित की थी। उनके मतानुसार शिवलिंग पुरुष-लिंग का चिह्न है एवं उसी प्रकार शालग्राम शिला स्त्री-लिंग का प्रतीक है; शिवलिंग एवं शालग्राम दोनों ही लिंग-योनि पूजा के अंग हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने उपर्युक्त दोनों मतों का खंडन किया और कहा कि यद्यपि शिवलिंग को नरलिंग कहने का अविवेकपूर्ण मत प्रचलित है, किन्तु शालग्राम के सम्बन्ध में यह नवीन मत तो नितान्त आकस्मिक एवं आश्चर्यजनक है।

स्वामीजी ने कहा कि शिवलिंग-पूजा की उत्पत्ति अथर्ववेद संहिता के 'यूपस्तम्भ' के प्रसिद्ध स्तोत्र से हुई है। उस स्तोत्र में अनादि अनन्त स्तम्भ का अथवा स्कम्भ का वर्णन है; एवं यह स्कम्भ ही ब्रह्म है—ऐसा प्रतिपादित किया गया है। जिस प्रकार

यज्ञ की अग्नि, शिखा, धूम्र, भस्म, सोमलता एवं यज्ञ-काष्ठ के वाहक वृष की परिणति महादेव की पिंगल जटा, नीलकंठ, अंगकान्ति एवं वाहनादि में हुई है, उसी प्रकार यूपस्तम्भ भी श्रीशंकर में लीन होकर महिमान्वित हुआ है।

अथर्ववेद संहिता में उसी प्रकार यज्ञ का उच्छिष्ट भी महादेव की महिमा के रूप में प्रतिपादित हुआ है।

लिंगादि पुराण में उक्त स्तोत्र का ही कथानक के रूप में वर्णन करके महास्तम्भ की महिमा एवं श्रीशंकर के प्राधान्य की व्याख्या की गई है।

फिर, एक और बात भी विचारणीय है। बौद्ध लोग श्रीबुद्ध की स्मृति में स्मारक-स्तूपों का निर्माण किया करते थे, और जो लोग निर्धन होने के कारण बड़े-बड़े स्मारक-स्तूपों का निर्माण नहीं कर सकते थे, वे स्तूप की एक छोटी सी प्रतिमा भेंट करके श्रीबुद्ध के प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित किया करते थे। इस प्रकार के उदाहरण आज भी काशी के मन्दिरों एवं भारत के अन्य तीर्थ-स्थानों में दीख पड़ते हैं, जहाँ पर लोग बड़े-बड़े मन्दिरों का निर्माण करने में असमर्थ होकर मन्दिर की एक छोटी सी प्रतिमा ही निवेदित किया करते हैं। अतः, यह बिलकुल सम्भव है कि बौद्धों के प्रादुर्भाव काल में धनवान हिन्दू लोग बौद्धों के समान उनके स्तम्भ की आकृतिवाला स्मारक निर्मित किया करते थे एवं निर्धन लोग अर्थाभाव के कारण छोटे पैमाने पर उनका अनुकरण करते थे; और फिर बाद में निर्धनों

द्वारा भेंट की गई वे छोटी-छोटी प्रतिमाएँ उस स्कम्भ में अर्पित कर दी गई।

बौद्ध-स्तूप का दूसरा नाम धातुगर्भ है। स्तूप के बीच शिलाखंड में प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुओं की भस्मादि वस्तुएँ सुरक्षित रखी जाती थीं। उन वस्तुओं के साथ स्वर्ण इत्यादि अन्य धातुएँ भी रखी जाती थीं। शालग्राम शिला उक्त अस्थि एवं भस्मादि-रक्षक शिला का प्राकृतिक प्रतिरूप है। इस प्रकार, पहले बौद्धों द्वारा पूजित होकर, बौद्ध धर्म के अन्य अंगों की तरह वैष्णव सम्प्रदाय में इसका प्रवेश हुआ। नर्मदा नदी के किनारे तथा नैपाल में बौद्धों का प्रभाव दीर्घकाल तक स्थायी था। यहाँ यह बात भी विशेष ध्यान देने योग्य है कि प्राकृतिक नर्मदेश्वर शिवलिंग एवं नैपाल के शालग्राम ही विशेष रूप से पूज्य हैं।

शालग्राम के विषय में यौन-व्याख्या एक अत्यन्त अनहोनी बात है तथा पहले से ही अप्रासंगिक है। शिवलिंग के बारे में यौन-व्याख्या निर्बोध एवं नासमझ व्यक्तियों द्वारा की गई थी तथा उसकी उत्पत्ति भारतवर्ष में उक्त बौद्ध सम्प्रदाय की घोर अवनति के समय ही हुई। उस समय के समस्त घृणास्पद बौद्धतन्त्र अब भी नैपाल और तिब्बत में बहुत प्रचलित हैं।

एक दूसरा भाषण स्वामीजी ने भारतीय धर्म के विस्तार के विषय में दिया। उसमें स्वामीजी ने यह बतलाया कि भारतखंड में बौद्ध इत्यादि जो विभिन्न धर्म हुए, उन सबकी उत्पत्ति वेद में ही है। समस्त उसी में निहित है। उन सब बीजों को प्रस्फुटित

तथा विस्तृत करके बौद्ध इत्यादि धर्मों की सृष्टि हुई है। आधुनिक हिन्दू धर्म भी उन बीजों का ही विस्तार है,—और ये समाज के विस्तार या संकोच के साथ विस्तृत अथवा कहीं कहीं अपेक्षाकृत संकुचित होकर विद्यमान हैं। उसके बाद स्वामीजी ने बुद्धदेव से पहले श्रीकृष्ण के आविर्भाव के सम्बन्ध में कुछ कहकर पाश्चात्य पण्डितों को यह बतलाया कि जिस प्रकार विष्णुपुराण में वर्णित राजकुलों का इतिहास क्रमशः पुरातत्व के उद्घाटनों के साथ साथ प्रमाणित हो रहा है, उसी प्रकार भारतवर्ष की समस्त कथाएँ भी सत्य हैं। उन्होंने यह कहा कि वे वृथा कल्पनापूर्ण लेख लिखने की अपेक्षा उन कथाओं का रहस्य जानने की चेष्टा करें। पण्डित मैक्स मूलर ने एक पुस्तक में लिखा है कि कितना ही पारस्परिक सादृश्य क्यों न हो, पर जब तक यह प्रमाण नहीं मिलता कि कोई ग्रीक संस्कृत भाषा जानता था, तब तक यह सिद्ध नहीं होगा कि भारतवर्ष की सहायता प्राचीन ग्रीस (यूनान देश) को मिली थी। किन्तु कतिपय पाश्चात्य विद्वान् भारतीय ज्योतिषशास्त्र के कई पारिभाषिक शब्दों के साथ ग्रीक ज्योतिष के शब्दों का सादृश्य देखकर एवं यह जानकर कि यूनानियों ने भारतवर्ष में एक छोटासा राज्य स्थापित किया था, कहते हैं कि भारतवर्ष को साहित्य, ज्योतिष, गणित आदि समस्त विद्याओं में यूनानियों की सहायता प्राप्त हुई है। और केवल यही नहीं, एक साहसी लेखक ने तो यहाँ तक लिखा है कि समस्त भारतीय विद्या यूनानी विद्या का ही प्रतिबिम्ब है।

की आलोचना की है, वे केवल यही कहेंगे कि उस प्रकार का सादृश्य केवल नाटककार के कल्पना-जगत् मात्र में ही है, वास्तविक जगत् में इसका किसी भी काल में अस्तित्व नहीं है। वह ग्रीक कोरस कहाँ है ? वह ग्रीक यवनिका नाट्यमंच के एक तरफ है, पर आर्य-नाटक में ठीक उसकी विपरीत दिशा में। उनकी रचना-प्रणाली एक प्रकार की है, आर्य-नाटकों की दूसरे प्रकार की।

'आर्य-नाटकों का ग्रीक-नाटकों के साथ सादृश्य बिलकुल है ही नहीं। हाँ, शेक्सपियर के नाटकों के साथ उनका सामंजस्य कहीं अधिक है।

अतएव एक सिद्धान्त इस प्रकार का भी हो सकता है कि शेक्सपियर सब विषयों में कालिदास इत्यादि कवियों के निकट ऋणी हैं एवं समस्त पाश्चात्य साहित्य भारतीय साहित्य की छाया मात्र है।

अन्त में पण्डित मैक्स मूलर की आपत्ति का प्रयोग उल्टे उन्हीं पर करके यह भी कहा जा सकता है कि जब तक यह सिद्ध नहीं होता कि किसी भी हिन्दू ने किसी भी काल में ग्रीक भाषा का ज्ञान प्राप्त किया था, तब तक भारत पर ग्रीक के प्रभाव की चर्चा करना भी उचित नहीं है।

उसी तरह आर्य-शिल्पकला में भी ग्रीक-प्रभाव दिखलाना भ्रम है।

स्वामीजी ने यह भी कहा कि श्रीकृष्ण-आराधना बुद्ध की अपेक्षा अधिक प्राचीन है और यदि गीता महाभारत का समकालीन ग्रन्थ नहीं है, तो उसकी अपेक्षा निश्चय ही बहुत प्राचीन है—

" म्लेच्छा वै यवनास्तेषु एषा विद्या प्रतिष्ठिता ।
ऋषिवत् तेऽपि पूज्यन्ते................"

— इस एक श्लोक पर पाश्चात्य विद्वानों ने कितनी ही कल्पनाएँ की हैं ! पर इस श्लोक से यह किस प्रकार सिद्ध हुआ कि आर्यों ने म्लेच्छों के निकट शिक्षा प्राप्त की थी ? यह भी कहा जा सकता है कि उक्त श्लोक में आर्य-आचार्यों के म्लेच्छ शिष्यों को उत्साहित करने के लिए विद्या की महिमा दिखलाई गई है।

द्वितीयतः, " गृहे चेत् मधु विन्देत, किमर्थं पर्वतं व्रजेत् !" आर्यों की प्रत्येक विद्या का बीज वेद में विद्यमान है एवं उक्त किसी भी विद्या की प्रत्येक संज्ञा वेद से आरम्भ करके वर्तमान समय के ग्रन्थों में भी दिखाई जा सकती है। फिर इस अप्रासंगिक यूनानी-आधिपत्य की क्या आवश्यकता है ?

तृतीयतः, आर्य-ज्योतिष का प्रत्येक ग्रीक सदृश शब्द संस्कृत से सहज में ही व्युत्पन्न होता है, प्रत्यक्ष विद्यमान सहज व्युत्पत्ति को छोड़कर यूनानी व्युत्पत्ति को ग्रहण करने का पाश्चात्य पण्डितों को क्या अधिकार है, यह स्वामीजी नहीं समझ सके।

की आलोचना की है, वे केवल यही कहेंगे कि उस प्रकार का सादृश्य केवल नाटककार के कल्पना-जगत् मात्र में ही है, वास्तविक जगत् में उसका किसी भी काल में अस्तित्व नहीं है। वह ग्रीक कोरस कहाँ है? वह ग्रीक यवनिका नाट्यमंच के एक तरफ है, पर आर्य-नाटक में ठीक उसकी विपरीत दिशा में। उनकी रचना-प्रणाली एक प्रकार की है, आर्य नाटकों की दूसरे प्रकार की।

आर्य-नाटकों का ग्रीक-नाटकों के साथ सादृश्य बिल्कुल है ही नहीं। हाँ, शेक्सपियर के नाटकों के साथ उनका सामंजस्य कहीं अधिक है।

अतएव एक सिद्धान्त इस प्रकार का भी हो सकता है कि शेक्सपियर सब विषयों में कालिदास इत्यादि कवियों के निकट ऋणी हैं एवं समस्त पाश्चात्य साहित्य भारतीय साहित्य की छाया मात्र है।

अन्त में पण्डित मैक्स मूलर की आपत्ति का प्रयोग उल्टे उन्हीं पर करके यह भी कहा जा सकता है कि जब तक यह सिद्ध नहीं होता कि किसी भी हिन्दू ने किसी भी काल में ग्रीक भाषा का ज्ञान प्राप्त किया था, तब तक भारत पर ग्रीक के प्रभाव की चर्चा करना भी उचित नहीं है।

उसी तरह आर्य-शिल्पकला में भी ग्रीक-प्रभाव दिखलाना भ्रम है।

स्वामीजी ने यह भी कहा कि श्रीकृष्ण-आराधना बुद्ध की अपेक्षा अधिक प्राचीन है और यदि गीता महाभारत का समकालीन ग्रन्थ नहीं है, तो उसकी अपेक्षा निश्चय ही बहुत प्राचीन है—

बहुत प्रकाश हो जायगा। विशेषतः, यह महाभारत भारतीय इतिहास का अमूल्य ग्रन्थ है। यह अतिशयोक्ति नहीं है कि अभी तक इस सर्वप्रधान ग्रन्थ का पाश्चात्य-संसार में अच्छी तरह से अध्ययन ही नहीं किया गया।

स्वामीजी के इस भाषण के बाद बहुत से व्यक्तियों ने अपनी अपनी राय प्रकट की। बहुत से लोगों ने कहा कि स्वामीजी जो कह रहे हैं, उसका अधिकांश हमारी राय से मिलता है और हम स्वामीजी से यह कहते हैं कि संस्कृत पुरातत्व का अब वह समय नहीं रह गया। आधुनिक संस्कृतज्ञ सम्प्रदाय के लोगों की राय अधिकांश स्वामीजी के सदृश ही है तथा भारतवर्ष की कथाओं एवं पुराणादि में भी सच्चा इतिहास है, इस पर भी हम विश्वास करते हैं।

अन्त में वृद्ध सभापति महोदय ने अन्य सब विषयों का अनुमोदन करते हुए केवल गीता और महाभारत के समकालीन होने में अपना विरोध प्रकट किया। किन्तु उन्होंने प्रमाण केवल इतना ही दिया कि अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार गीता महाभारत का अंग नहीं है।

इस अधिवेशन की लिपि-पुस्तक में उक्त भाषण का सारांश फ्रेंच भाषा में मुद्रित होगा।

वंग-भाषा *

हमारे देश में प्राचीन काल से सभी विद्याओं के संस्कृत में ही विद्यमान रहने के कारण, विद्वानों तथा सर्वसाधारण के बीच एक अगाध समुद्र-सा बना रहा है। बुद्ध के समय से लेकर श्रीचैतन्य एवं श्रीरामकृष्ण तक जो जो महापुरुष लोक-कल्याण के लिए अवतीर्ण हुए, उन सभों ने सर्वसाधारण की भाषा में ही जनता को उपदेश दिया है। पाण्डित्य अवश्य उत्तम है, परन्तु क्या पाण्डित्य का प्रदर्शन जटिल, अप्राकृतिक तथा कल्पित भाषा को छोड़ और किसी भाषा में नहीं हो सकता? बोल-चाल की भाषा में क्या कलात्मक निपुणता नहीं दर्शाई जा सकती? स्वाभाविक भाषा को छोड़कर एक अस्वाभाविक भाषा को तैयार करने से क्या लाभ? घर में जिस भाषा में हम बातचीत करते हैं, उसी में मन ही मन समस्त पाण्डित्य

---

* श्रीरामकृष्ण मठ द्वारा संचालित 'उद्बोधन' पत्र के सम्पादक को स्वामीजी द्वारा २० फरवरी, सन् १९०० ई. को लिखे गए पत्र उद्धृत।

की गवेषणा भी करते हैं; तो फिर लिखने के समय ही हम जटिल भाषा का प्रयोग क्यों करने लगते हैं ! जिस भाषा में तुम अपने मन में दर्शन या विज्ञान के बारे में सोचते हो, आपस में कथा-वार्ता करते हो, उसी भाषा में क्या दर्शन या विज्ञान नहीं लिखा जा सकता ! यदि कहो नहीं, तो फिर उस भाषा में तुम अपने मन में अथवा कुछ व्यक्तियों के साथ उन सब तत्त्वों पर विचार-परामर्श किस प्रकार करते हो ! स्वाभाविक तौर पर जिस भाषा में हम अपने मन के विचारों को प्रकट करते हैं, जिस भाषा में हम अपना क्रोध, दुःख एवं प्रेम इत्यादि प्रदर्शित करते हैं, उससे अधिक उपयुक्त भाषा और कौन हो सकती है ! अतः हमें उसी भाव को, उसी शैली को बनाये रखना होगा। उस भाषा में जितनी शक्ति है, थोड़े से शब्दों में उसमें जिस प्रकार अनेक विचार प्रकट हो सकते हैं तथा उसे जैसे चाहो घुमाया-फिराया जा सकता है, वैसे गुण किसी कृत्रिम भाषा में कदापि नहीं आ सकते। भाषा को ऐसी बनाना होगा——मानो शुद्ध इस्पात, उसे जैसा चाहे मरोड लो, पर फिर से जैसा का तैसा; कहो तो एक चोट में ही पत्थर काट दे, लेकिन दाँत न टूटें। हमारी भाषा संस्कृत के समान बड़े बड़े निरर्थक शब्दों का प्रयोग करते करते तथा उसके आडम्बर की——और केवल उसके इसी एक पहलू की——नकल करते करते अस्वाभाविक होती जा रही है। भाषा ही तो जाति की उन्नति का प्रधान लक्षण एवं उपाय है।

यदि यह कहो कि यह बात ठीक है, पर बंग देश में तो जगह-जगह पर भाषा में बहुत हेर-फेर है, अतः कौन सी भाषा ग्रहण

करनी चाहिए ?—तो इसका उत्तर यह है कि प्राकृतिक नियमानुसार जो भाषा शक्तिशाली है तथा जिसका अधिक प्रचार है, उसी को अपनाना होगा। उदाहरणार्थ, कलकत्ते की ही भाषा को ले लो। पूर्व, पश्चिम किसी भी जगह से कोई आकर कलकत्ते के वातावरण में रहे, तो देखोगे कि कुछ ही दिनों में वह कलकत्ते की भाषा बोलने लगेगा। अतएव प्रकृति स्वयं ही यह दिखला देती है कि कौनसी भाषा लिखनी होगी। रेल तथा यातायात की जितनी अधिक सुविधा होगी, उतना ही पूर्व-पश्चिम का भेद दूर हो जायगा तथा चिटगाँव से लेकर वैद्यनाथ तक सभी लोग कलकत्ते की भाषा का प्रयोग करने लगेंगे। यह न देखो कि किस जिले की भाषा संस्कृत के अधिक निकट है, वरन् यह देखो कि कौनसी भाषा अधिक प्रचलित हो रही है। जब यह स्पष्ट है कि कलकत्ते की भाषा ही थोड़े दिनों में समस्त बंगाल की भाषा बन जायगी, तो फिर यदि पुस्तकों की और घरेलू बोल-चाल की भाषा को एक बनाना हो तो ऐसी दशा में समझदार व्यक्ति निश्चय ही कलकत्ते की भाषा को आधारस्वरूप मानकर ग्रहण करेगा। यहाँ पर ग्राम्यगत ईर्ष्या-प्रतिद्वन्द्विता आदि को भी सदा के लिए नष्ट कर देना होगा। पूरे देश के कल्याण के लिए तुम्हें अपने गाँव अथवा जिले की प्रधानता को भूल जाना होगा।

भाषा विचारों का वाहक है। भाव ही प्रधान है, भाषा गौण है। हीरे और मोती से सुसज्जित घोड़े पर एक बन्दर को बैठाना क्या शोभा देता है ? संस्कृत की ओर देखो तो सही। ब्राह्मणों की संस्कृत देखो, शबर स्वामी का मीमांसा-भाष्य देखो,

पतंजलि का महाभाष्य देखो, फिर कैयट का भाष्याभाष्य देखो, और दूसरी ओर आधुनिक काल की संस्कृत देखो। —इसी से तुम समझ सकोगे कि मनुष्य जब जीवित रहता है, तब उसकी भाषा भी जीवनमय होती है, और जब वह मृत्यु की ओर अग्रसर होता है, तब उसकी भाषा भी प्राणहीन होती जाती है। मृत्यु जितनी समीप आती है, मौलिक विचारशक्ति का जितना क्षय होता है, उतनी ही दो-एक सड़े भावों को पुष्पों के ढेर तथा चन्दनों से ढाँककर सुन्दर बनाने की चेष्टा की जाती है। ओफ़! कैसा तमाशा है—दस पृष्ठ लम्बे लम्बे विशेषणों के बाद फिर कहीं आता है—"राजा आसीत्"!!! कैसे विकट विशेषणों की भरमार है! कैसा अद्भुत बहादुर समास! कैसा जबरदस्त श्लेष! —यह भी किसी भाषा में भाषा है! ये तो सब मृत भाषा के लक्षण हैं। ज्योंही देश की अवनति आरम्भ हुई कि ये सब चिह्न उदित हो गए, और ये केवल भाषा में ही नहीं, वरन् समस्त शिल्प-कलाओं में भी प्रकट हो गए। मकान बनाया गया—उसमें न कुछ ढंग था न रूप रंग; केवल खम्भों को खुदेड़-खुदेड़कर नष्ट कर दिया गया। और गहना क्या पहनाया, सारे शरीर को छेद-छेदकर एक अच्छी खासी ब्रह्मराक्षसी बना डाली, और इधर देखो, तो गहनों में नक्काशी बेल-बूटों की भरमार का पूछना ही क्या!! गाना हो रहा है या रोना या झगड़ा—गाने में भाव क्या है, उद्देश्य क्या है—यह तो साक्षात् वीणापाणि भी शायद न समझ सकें; और फिर उस गाने में आलापों की भरमार का तो पूछना ही क्या! ओफ़! और ये चिल्लाते भी कैसे

हैं—मानो कोई शरीर से अँतड़ियाँ खींचे ले रहा हो ! फिर उसके ऊपर मुसलमान उस्तादों की नकल करने का—उन्हीं के समान दाँत पर दाँत चढ़ाकर नाक से आवाज़ निकालने का—भूत भी समाया हुआ है ! आजकल इन सब बातों को सुधारने के उपक्रम दीख पड़ रहे हैं । अब लोग धीरे धीरे समझेंगे कि वह भाषा, वह शिल्प तथा वह संगीत, जो भावहीन है, प्राणहीन है, किसी भी काम का नहीं । अब लोग समझेंगे कि जातीय-जीवन में ज्यों ज्यों स्फूर्ति आती जायगी, त्यों त्यों भाषा, शिल्प, संगीत इत्यादि आप ही आप भावमय एवं प्राणपूर्ण होते जाएँगे; प्रचलित दो शब्दों से जितनी भावराशि प्रकट होगी, वह दो हज़ार छँटे हुए विशेषणों में भी न मिलेगी । तब देवता की मूर्ति को देखने से ही भक्तिभाव का उद्रेक होगा, आभूषणों से लदी हुई युवती को देखते ही देवी का बोध होगा एवं घर-द्वार-सम्पत्ति सभी कुछ प्राण-स्पन्दन से डग-मग करने लगेंगी ।

हैं—मानो कोई शरीर से अँतड़ियाँ खींचे ले रहा हो ! फिर उसके ऊपर मुसलमान उस्तादों की नकल करने का—उन्हीं के समान दाँत पर दाँत चढ़ाकर नाक से आवाज़ निकालने का—भूत भी समाया हुआ है ! आजकल इन सब बातों को सुधारने के उपक्रम दीख पड़ रहे हैं । अब लोग धीरे धीरे समझेंगे कि वह भाषा, वह शिल्प तथा वह संगीत, जो भावहीन है, प्राणहीन है, किसी भी काम का नहीं । अब लोग समझेंगे कि जातीय-जीवन में ज्यों ज्यों स्फूर्ति आती जायगी, त्यों त्यों भाषा, शिल्प, संगीत इत्यादि आप ही आप भावमय एवं प्राणपूर्ण होते जाएँगे; प्रचलित दो शब्दों से जितनी भावराशि प्रकट होगी, वह दो हज़ार छँटे हुए विशेषणों में भी न मिलेगी । तब देवता की मूर्ति को देखने से ही भक्तिभाव का उद्रेक होगा, आभूषणों से लदी हुई युवती को देखते ही देवी का बोध होगा एवं घर-द्वार-सम्पत्ति सभी कुछ प्राण-स्पन्दन से डग-मग करने लगेगी ।

चैन करने को। उनके आत्मीय लोग उनके लिए विशेष चिन्तित रहते हैं, उनकी प्रणयिनी भी अब विशेष शंकित रहती है।

× × ×

पेरिस में एक बड़ी प्रदर्शनी है। यहाँ विभिन्न देशों और दिशाओं से अनेक गुणी आकर इकट्ठे हुए हैं—अनेक देशों की शिल्प-रचना, कारीगरी का कमाल आज पेरिस में केन्द्रित हुआ है। शायद इस आनन्द-धाम में शोक से जर्जरित हृदय पुनः स्वाभाविक स्वास्थ्य लाभ कर सके, दुःख-चिन्ता छोड़कर मनोरंजक विषयों में शायद आकृष्ट हो सके—इसी आशा से, आत्मीयों की राय से, मित्रों के साथ केवल 'क' पेरिस को रवाना हो गए।

ईसा-अनुसरण

[स्वामीजी ने अमेरिका जाने के बहुत पहले १८८९ ई. में 'साहित्य-कल्पद्रुम' नामक मासिक-पत्रिका में (जो आज बन्द हो गई है) Imitation of Christ नामक विश्वविख्यात पुस्तक का अनुवाद करना आरम्भ किया था। इस अनुवाद का शीर्षक उन्होंने 'ईसा-अनुसरण' दिया था। इस पत्रिका के प्रथम भाग के प्रथम अंक से लेकर पंचम अंक तक में इस पुस्तक के छः अध्याय प्रकाशित हुए थे। हमने समस्त अनुवाद को इस पुस्तक में शामिल किया है। 'सूचना' स्वामीजी की मौलिक रचना है।]

सूचना

'ईसा-अनुसरण' समस्त ईसाई-जगत् की एक अत्यन्त आदरणीय निधि है। यह ग्रन्थ किसी रोमन कैथलिक संन्यासी द्वारा लिखा गया है—लिखित कहना तो भूल होगी—इस पुस्तक का प्रत्येक अक्षर ईसा-प्रेम में मस्त इन सर्वत्यागी महात्मा के हृदय के [illegible] से अंकित है। जिस महापुरुष की ज्वलन्त सजीव

चरणों ने आज चार सौ वर्ष तक करोड़ों नर-नारियों के हृदय को अद्भुत मोहिनीशक्ति के बल से आकृष्ट कर रखा है, कर रहा है तथा करेगा, जो महापुरुष आज प्रतिभा एवं साधना की शक्ति से सहस्रों सम्राट द्वारा भी पूजित हुए हैं तथा जिनकी अलौकिक पवित्रता के सामने, आपस में सदैव से लड़नेवाला असंख्य सम्प्रदायों में विभक्त ईसाई-समाज अपने बड़े पुराने वैषम्य को छोड़कर नतमस्तक हो रहा है—उन्होंने इस पुस्तक में अपना नाम तक नहीं दिया। और देंगे क्यों ! जिन्होंने समस्त पार्थिव भोग-विलास को, इस जगत् के समस्त मान-प्रतिष्ठा को विष्ठा की भाँति त्याग दिया, वे क्या कभी क्षुद्र नाम के भिखारी हो सकते हैं ! बाद के लोगों ने अनुमान करके 'टॉमस आ केम्पिस' नामक एक कैथलिक संन्यासी को ग्रन्थकार निर्धारित किया है; इसमें कितनी सत्यता है यह तो ईश्वर ही जानें, पर इसमें सन्देह नहीं कि वे जगत्पूज्य हैं।

इस समय हम ईसाई राजा की प्रजा हैं *। राज-अनुग्रह से अनेकों प्रकार के स्वदेशी एवं विदेशी ईसाइयों को हमने देखा है। आज हम ऐसे मिशनरी महापुरुष देख रहे हैं जो इस प्रकार प्रचार तो करते हैं कि 'आज जो कुछ है खाओ, कल के लिए चिन्ता न करो'; किन्तु वे स्वयं आगामी दस साल के हिसाब एवं संचय में व्यस्त हैं ! हम यह भी देख रहे हैं कि 'जिन्हें सिर टेकने तक को स्थान न था' उनके शिष्य, उनके प्रचारक दूल्हे की

* जिस समय यह लेख लिखा गया था।

तरह विलासिता में सज-धजकर ईसा के ज्वलन्त त्याग एवं निःस्वार्थता के प्रचार में संलग्न हैं। किन्तु प्रकृत ईसाई एक भी दिखलाई नहीं दे रहा है। इस अद्भुत विलासी, अत्यन्त दाम्भिक, महा अत्याचारी तथा ठाट-बाट से रहनेवाले प्रोटेस्टेन्ट ईसाई सम्प्रदाय को देखकर ईसाइयों के बारे में हमारी जो अत्यन्त कुत्सित धारणा हो गई है, वह इस पुस्तक को पढ़ने से सम्यक् रूप से दूर हो जायगी।

'सब सयानों का एक मत'—समस्त यथार्थ ज्ञानियों का एक प्रकार का ही मत होता है। पाठक इस पुस्तक को पढ़ते-पढ़ते गीता में भगवदोक्त "सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" इत्यादि उपदेशों की शत शत प्रतिध्वनि देख सकेंगे। दीनता, आर्त एवं दास्य-भक्ति की पराकाष्ठा इस ग्रन्थ की प्रत्येक पंक्ति में अंकित है एवं इसका पाठ करते करते तीव्र वैराग्य, अत्यद्भुत आत्मसमर्पण और निर्भरता के भाव से हृदय उच्छ्वसित हो जाता है। जो अन्ध कट्टरता के वशीभूत होकर, ईसाइयों का ग्रन्थ समझकर इस पुस्तक को अश्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, उनके लिए हम वैशेषिक दर्शन के एक सूत्र का केवल उल्लेख करते हैं,—

"आप्तोपदेशवाक्यःशब्दः",

अर्थात् सिद्ध पुरुषों के उपदेश प्रमाणस्वरूप हैं और इसी का नाम शब्द-प्रमाण है। इस स्थान पर टीकाकार ऋषि जैमिनि कहते हैं कि आर्य और म्लेच्छ दोनों का ही आप्त पुरुष होना सम्भव है।

यदि 'यवनाचार्य' इत्यादि ग्रीक ज्योतिष पण्डितों ने पुरातन काल में आर्यों के समीप इस प्रकार का प्रतिष्ठा-लाभ किया था, तो फिर इस पर विश्वास नहीं होता कि इस भक्तशिरोमणि की यह पुस्तक इस देश में सम्मान प्राप्त न करेगी।

जो कुछ भी हो, इस पुस्तक का अनुवाद हम पाठकों सामने क्रमशः उपस्थित करेंगे। आशा है कि जो बहुमूल्य स पाठकगण हजारों सारहीन उपन्यास तथा नाटकों में नष्ट करते उसका कम से कम एक-शतांश तो वे इसके अध्ययन में अव लगाएँगे।

जहाँ तक सम्भव हो सका है, अनुवाद को ज्यों का बनाए रखने की चेष्टा की गई है—कहाँ तक सफल हुआ हूँ, क नहीं सकता। जो वाक्य बाइबिल से सम्बन्धित किसी विषय का उल्लेख करते हैं, उनकी नीचे टीका दी जायगी।

किमधिकमिति।

प्रथम अध्याय

प्रथम परिच्छेद

'ईसा-अनुसरण' तथा संसार और समस्त सांसारिक असार वस्तुओं के प्रति वैराग्य।

१. प्रभु कह रहे हैं, "जो कोई मेरा अनुगमन करता है

वह अन्धकार में पैर नहीं रखता ।" *

यदि हम सचमुच आलोक पाने के इच्छुक हैं एवं हृदय के सब प्रकार के अन्धकार से मुक्त होने की आकांक्षा करते हैं, तो ईसा की ये बातें हमें याद दिला रही हैं कि उनके जीवन और चरित्र का अनुसरण हमें अवश्य ही करना चाहिए ।

अतएव ईसा के जीवन पर मनन करना हमारा प्रधान कर्तव्य है । †

२. उन्होंने जो शिक्षा प्रदान की है, वह अन्य सब महात्माओं द्वारा दी हुई शिक्षा से बढ़कर है, एवं जो व्यक्ति पवित्र

---

* जोहन ८ । १२

He that followeth me &c.

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥—गीता, ७।१४

मेरी सत्वादि त्रिगुणमयी माया नितान्त दुरतिक्रम्य है; जो व्यक्ति केवल मेरी ही शरण में आकर भजन करता है, केवल वही इस दुस्तर माया के पार जाता है ।

†. To meditate &c.

ध्यात्वैवात्मानमहर्निशं मुनिः ।

तिष्ठेत् सदा मुक्तसमस्तबन्धनः ॥—रामगीता

मुनि इस प्रकार रात-दिन परमात्मा के ध्यान द्वारा समस्त संसार-बन्धनों से मुक्त होते हैं ।

वाला द्वारा संचालित हैं, वे इसके अन्दर छिपी हुई 'मान्ना' ‡ प्राप्त करेंगे।

किन्तु ऐसा अनेक बार होता है कि बहुत से लोग ईसा के शुभ समाचार को बारम्बार सुनकर भी उसकी प्राप्ति के लिए किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करते, क्योंकि वे आत्मा के द्वारा ईसा में अनुप्राणित नहीं हुए हैं। अतएव, यदि तुम आनन्दित हृदय से एवं सम्पूर्ण रूप से ईसा के वाक्य-तत्व में डूबना चाहते हो, तो उनके जीवन के साथ अपने जीवन का सम्पूर्ण सादृश्य स्थापित करने के लिए अधिक चेष्टावान हो जाओ। §

---

‡ इज़राइल के निवासी जब रेगिस्तान में आहार की कमी से कष्ट पा रहे थे, उस समय ईश्वर ने उनके लिए एक प्रकार की खाद्य-सामग्री बरसाई थी—उसका नाम 'मान्ना' था।

§. But it happens &c.

श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।—गीता

सुनकर भी अनेकों इसे नहीं समझ पाते।

न गच्छति विना पानं व्याधिरौषधशब्दतः।

विनाऽपरोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते ॥—विवेकचूडामणि, ६४

'औषधि' शब्द उच्चारण करने से ही व्याधि दूर नहीं होती, अपरोक्षानुभव के बिना ब्रह्म-ब्रह्म कहने से ही मुक्तिलाभ नहीं होता।

श्रुतेन किं यो न च धर्ममाचरयेत्।—महाभारत

यदि धर्म-आचरण नहीं करते हो तो वेद पढ़कर क्या होगा?

३. 'त्रित्ववाद' * के सम्बन्ध में गम्भीर गवेषणा करने से तुम्हें क्या लाभ होगा, यदि तुममें नम्रता का अभाव उस ईश्वरीय त्रित्व को असन्तुष्ट करता है ?

निश्चय ही उच्च वाक्य-सौन्दर्य मनुष्य को पवित्र एवं निष्कपट नहीं बना सकता; किन्तु धार्मिक जीवन उसे ईश्वर का प्रिय बनाता है। †

अनुताप में हृदय-वेदना सहन करूँगा,—उसका सर्वलक्षण-युक्त विवरण जानना नहीं चाहता।

यदि सम्पूर्ण बाइबिल तथा समस्त दार्शनिकों के मत तुम जानते हो, तो उससे तुम्हें क्या लाभ होगा यदि तुम भगवत्प्रेम तथा ईश्वर-कृपा से वंचित हो ? ‡

---

* ईसाई मत में जनकेश्वर (पिता), पवित्र आत्मा एवं तनयेश्वर (पुत्र)—ये एक में तीन, तीन में एक हैं।

† Surely sublime language &c.

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये ॥—विवेकचूड़ामणि

नाना प्रकार के वाक्य-विन्यास एवं शब्द-छटा यह सब जिस प्रकार शास्त्र-व्याख्या का एक कौशल मात्र है, उसी प्रकार पण्डितों का पाण्डित्य केवल भोग के लिए है, मुक्ति के लिए नहीं।

‡ कोरिन्थियन्, १३।२

"असार से भी असार, सभी असार है, केवल उनसे प्रेम करना ही सार है, एकमात्र उनकी सेवा करना ही सार है।"§

तभी सर्वोच्च ज्ञान तुम्हारा होगा, जब तुम स्वर्गराज्य प्राप्त करने के लिए संसार से घृणा करोगे।

४. अतएव धन ढूँढ़ना एवं उस नश्वर वस्तु में विश्वास स्थापित करना असार है।

मान ढूँढ़ना अथवा उच्च पद प्राप्त करने की चेष्टा करना भी असार है।

अन्त में कठिन दंड-भोग करानेवाली शारीरिक वासनाओं के वश में होना तथा उनके लिए व्याकुल होना असार है।

जीवन का सदुपयोग करने की चेष्टा न करके दीर्घ जीवन प्राप्त करने की इच्छा असार है।

पर-काल के संचय की चेष्टा न कर केवल इह-जीवन के विषय में चिन्ता करना असार है।

जहाँ अविनाशी आनन्द विद्यमान है, उस स्थान पर शीघ्र ही पहुँचने की चेष्टा न करके अत्यन्त शीघ्र विनाशशील वस्तु से प्रेम करना असार है।

---

§ इक्लिज़ियास्टिक १।२—Vanity of vanities, all is vanity &c.

के सन्ति सन्तोऽखिलवीतरागाः।
अपास्तमोहाः शिवतत्त्वनिष्ठाः ॥ (मणिरत्नमाला)—शंकराचार्य

जो लोग समस्त सांसारिक विषयों में आसक्तिशून्य होकर एकमात्र शिवतत्त्व में निष्ठावान् हैं, वे ही साधु हैं।

३. 'त्रित्ववाद' * के सम्बन्ध में गम्भीर गवेषणा करने से तुम्हें क्या लाभ होगा, यदि तुममें नम्रता का अभाव उस ईश्वरीय त्रित्व को असन्तुष्ट करता है ?

निश्चय ही उच्च वाक्य-सौन्दर्य मनुष्य को पवित्र एवं निष्कपट नहीं बना सकता; किन्तु धार्मिक जीवन उसे ईश्वर का प्रिय बनाता है। †

अनुताप में हृदय-वेदना सहन करूँगा,—उसका सर्वलक्षण-युक्त विवरण जानना नहीं चाहता।

यदि सम्पूर्ण बाइबिल तथा समस्त दार्शनिकों के मत तुम जानते हो, तो उससे तुम्हें क्या लाभ होगा यदि तुम भगवत्प्रेम तथा ईश्वर-कृपा से वंचित हो ? ‡

---

* ईसाई मत में जनकेश्वर (पिता), पवित्र आत्मा एवं तनयेश्वर (पुत्र)—ये एक में तीन, तीन में एक हैं।

† Surely sublime language &c.

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।

वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये ॥—विवेकचूड़ामणि

नाना प्रकार के वाक्य-विन्यास एवं शब्द-छटा यह सब जिस प्रकार शास्त्र-व्याख्या का एक कौशल मात्र है, उसी प्रकार पण्डितों का पाण्डित्य-प्रकर्ष केवल भोग के लिए है, मुक्ति के लिए नहीं।

‡ कोरिन्थियन्, १३।२

"असार से भी असार, सभी असार है, केवल उनसे प्रेम करना ही सार है, एकमात्र उनकी सेवा करना ही सार है।"§

तभी सर्वोच्च ज्ञान तुम्हारा होगा, जब तुम स्वर्गराज्य प्राप्त करने के लिए संसार से घृणा करोगे।

४. अतएव धन ढूँढ़ना एवं उस नश्वर वस्तु में विश्वास स्थापित करना असार है।

मान ढूँढ़ना अथवा उच्च पद प्राप्त करने की चेष्टा करना भी असार है।

अन्त में कठिन दंड-भोग करानेवाली शारीरिक वासनाओं के वश में होना तथा उनके लिए व्याकुल होना असार है।

जीवन का सद्व्यवहार करने की चेष्टा न करके दीर्घ जीवन प्राप्त करने की इच्छा असार है।

पर-काल के संचय की चेष्टा न कर केवल इह-जीवन के विषय में चिन्ता करना असार है।

जहाँ अविनाशी आनन्द विद्यमान है, उस स्थान पर शीघ्र ही पहुँचने की चेष्टा न करके अत्यन्त शीघ्र विनाशशील वस्तु से प्रेम करना असार है।

---

§ इक्लिज़ियास्टिक १।२—Vanity of vanities, all is vanity &c.

के सन्ति सन्तोऽखिलवीतरागाः।
अपास्तमोहाः शिवतत्त्वनिष्ठाः ॥ (मणिरत्नमाला)—शंकराचार्य
जो लोग समस्त सांसारिक विषयों में आसक्तिशून्य होकर एकमात्र शिवतत्व में निष्ठावान् हैं, वे ही साधु हैं।

५. उपदेशक के इस वाक्य का सर्वदा स्मरण करो—"नेत्र देखकर तृप्त नहीं होते, कर्ण सुनकर तृप्त नहीं होते।"‡

परिदृश्यमान पार्थिव पदार्थ से मन के अनुराग को हटाकर अदृश्य राज्य में हृदय के समुदय प्रेम को प्रतिष्ठित करने की विशेष चेष्टा करो, क्योंकि यदि तुम समस्त इन्द्रियों के वश में हो जाओगे तो तुम्हारी बुद्धिवृत्ति कलंकित हो जायगी और तुम ईश्वर की दया को खो बैठोगे।¶

द्वितीय परिच्छेद

अपने ज्ञान के सम्बन्ध में हीन भाव।

१. स्वभावतः सभी लोग ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा करते हैं; किन्तु, ईश्वर से न डरने पर, उस ज्ञान से क्या लाभ है?

अपनी आत्मा की कल्याण-चिन्ता छोड़कर, जो नक्षत्र-मण्डल की गतिविधि का निरीक्षण करने में व्यस्त हैं, ऐसे अहंकारी पण्डित की अपेक्षा वह दीन कृषक, जो विनीत भाव से ईश्वर की सेवा करता है, क्या निश्चय ही श्रेष्ठ नहीं है?

---

‡ इक्लिज़ियास्टिक, १।८

¶ Strive therefore &c.

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।

हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥—महाभारत

काम्य वस्तु के उपभोग द्वारा कामना की निवृत्ति नहीं होती, वरन् अग्नि में घृत डालने की भाँति वह अत्यन्त बढ़ जाती है।

जिन्होंने अपने-आप को अच्छी तरह से पहचान लिया है, वे अपनी दृष्टि में अति निम्न हैं, और मनुष्यों की प्रशंसा से वे किंचिन्मात्र भी आनन्दित नहीं हो सकते। मैं जगत् के समस्त विषयों को भले ही जान लूँ, पर यदि मेरी निःस्वार्थ सहानुभूति न हो, तो फिर जो ईश्वर मेरे कर्मानुसार मेरा विचार करेंगे, उनके सम्मुख मेरे ज्ञान की उपयोगिता ही क्या!

२. अत्यन्त ज्ञान-लालसा को त्याग दो; क्योंकि उससे चित्त अत्यन्त विक्षिप्त हो जाता है और भ्रम आ घुसता है।

पण्डित होने से ही विद्या प्रदर्शित करने तथा प्रतिभाशाली कहलाने की वासना आ जाती है।

इस प्रकार के अनेक विषय हैं, जिनके ज्ञान से किसी प्रकार का आध्यात्मिक लाभ नहीं होता; और वे अत्यन्त मूर्ख हैं जो अपने परित्राण में सहायता करनेवाले विषयों का परित्याग कर इन सब विषयों में मन को लगाए रहते हैं।

वाक्यबहुल से आत्मा की तृप्ति नहीं होती, परन्तु साधु-जीवन अन्तःकरण में शान्ति प्रदान करता है और पवित्र बुद्धि ईश्वर में निर्भरता स्थापित करती है।

३. यदि समधिक ज्ञान के साथ ही साथ तुम्हारा जीवन भी समधिक पवित्र न हो, तो तुम्हारा ज्ञान एवं धारणा-शक्ति जितनी अधिक होगी, तुम्हारा उतना ही अधिक कठोर विचार होगा।

अतएव अपनी दक्षता एवं विद्या के लिए बहु-प्रशंसित होने

की इच्छा न करो; बल्कि जो ज्ञान तुमको दिया गया है, उसको भय का कारण समझो।

यदि इस प्रकार का विचार तुम्हारे अन्दर आए कि 'मुझे बहुत से विषयों का ज्ञान है एवं मेरी बुद्धि विलक्षण है,' तो स्मरण रखो कि ऐसे अनेकों विषय हैं जिनका तुम्हें ज्ञान नहीं।

ज्ञान के अहंकार में फूलो मत; बल्कि अपनी अज्ञता को स्वीकार करो। तुम्हारी अपेक्षा कितने ही पण्डित विद्यमान हैं, ईश्वरादिष्ट शास्त्र-ज्ञान में तुम्हारी अपेक्षा कितने ही अभिज्ञ लोग मौजूद हैं। इस सबको देखते हुए भी फिर क्यों तुम अपने को दूसरों की अपेक्षा उच्च समझते हो?

यदि अपने लिए कल्याणप्रद कोई विषय जानना अथवा सीखना चाहते हो, तो संसार में अपरिचित एवं नगण्य होकर रहना पसन्द करो।

४. स्वयं को अपने यथार्थ रूप में जानना अर्थात् अपने को अत्यन्त छोटा समझना सबसे अधिक मूल्यवान तथा उत्कृष्ट शिक्षा है। अपने को छोटा समझना एवं दूसरे को श्रेष्ठ समझना और उनकी मंगल-कामना करना ही श्रेष्ठ ज्ञान तथा सम्पूर्णता का लक्षण है।

यदि यह देखो कि कोई प्रत्यक्ष तौर पर पाप कर रहा है, कोई किसी प्रकार का अपराध कर रहा है, तो भी अपने को श्रे न समझो।

हम सभी का पतन हो सकता है; फिर भी, तुम्हारी यह दृढ़ धारणा रहनी चाहिए कि तुम्हारी अपेक्षा अधिक दुर्बल और कोई नहीं है।

तृतीय परिच्छेद

सत्य की शिक्षा।

१. सुखी तो वही मनुष्य है जिसे सत्य स्वयं ही शिक्षा देता है—नश्वर शब्दों अथवा सांकेतिक चिह्नों द्वारा नहीं, वरन् अपने स्वरूप द्वारा।

हमारा मत एवं हमारी समस्त इन्द्रियाँ हमें अत्यधिक धोखा देती हैं; क्योंकि वस्तु का प्रकृत तत्व पहचानने में हमारी दृष्टि की गति अत्यन्त अल्प है।

गुप्त एवं गूढ़ विषयों का निरन्तर अनुसन्धान करने से क्या लाभ होगा! उनको यदि न जाना, तो भी अन्तिम विचार के दिन * हम निन्दित न होंगे।

उपकारी एवं आवश्यक वस्तु को त्यागकर स्वेच्छा से केवल उत्सुकता उत्पन्न करनेवाले और अपकारी विषय का अनुसन्धान करना अत्यन्त निर्बुद्धता का कार्य है। नेत्र रहते हुए भी हम नहीं देख रहे हैं।

---

* ईसाई मत में महाप्रलय के दिन ईश्वर सबका विचार करेंगे एवं पाप या पुण्यानुसार नरक या स्वर्ग प्रदान करेंगे।

२. न्याय-शास्त्र सम्बन्धी पदार्थों का विचार करने में हम क्यों व्यस्त रहते हैं ? अनेक सन्देहपूर्ण तर्कों से वे ही मुक्त होते हैं जिन्हें सनातन वाणी † उपदेश देती है।

उस अद्वितीय वाणी से सब पदार्थ निःसृत हुए हैं, समस्त पदार्थ उसी वाणी का ही निर्देश कर रहे हैं; वही आदि है और वही हमें उपदेश प्रदान करती है।

उस वाणी के बिना न तो कोई कुछ समझ सकता है और न किसी विषय पर यथार्थ रूप से विचार ही कर सकता है।

वे ही अचल रूप से प्रतिष्ठित हैं, वे ही ईश्वर में संस्थित हैं जिनका उद्देश्य केवल एक है, जिनके समक्ष समस्त पदार्थ एक अद्वितीय कारण का निर्देश करते हैं और जो एक ज्योति में ही समस्त पदार्थों का दर्शन करते हैं।

हे ईश्वर, हे सत्य, मुझे अपने साथ अनन्त प्रेम में एक कर लो।

बहुत से विषयों को सुनकर तथा उनका पठन कर मैं तो अत्यन्त क्लान्त हो जाता हूँ; मेरा समस्त अभाव, मेरी सब वासनाएँ तुम्हीं में निहित हैं।

सब आचार्यगण निर्वाक् हो जायँ, संसार तुम्हारे सामने स्तब्ध हो जाय; हे प्रभो, केवल तुम्हीं बोलो।

---

† यह वाणी बहुत कुछ वेदान्तिकों की 'माया' की तरह है। इसी का ईसा के रूप में अवतार हुआ था।

३. मनुष्य का मन जितना ही संयत एवं अन्तस्तल से सरल होता है, उतना ही वह गम्भीर विषयों में सहज में प्रवेश कर सकता है; क्योंकि उसका मन आलोक पाता है।

पवित्र, सरल एवं अटल व्यक्ति अनेकों कार्य करने पर भी विचलित नहीं होता; क्योंकि वह ईश्वर के माहात्म्य को प्रकाशित करने के लिए ही सब कार्य करता है तथा अपने सम्बन्ध में क्रियाहीन होने के कारण सब प्रकार से स्वार्थशून्य होता है। हृदय के भीतर बैठी हुई आसक्ति से बढ़कर और कौन पदार्थ तुम्हें अधिक सताता या बाधा पहुँचाता है !

ईश्वरानुरागी साधु पहले से ही अपने मन में निर्धारित कर लेते हैं कि उन्हें कौन कौनसे कार्य करने होंगे। उन सब कार्यों के करने में वे कभी भी विकृत आसक्ति-जनित इच्छा द्वारा प्रेरित नहीं होते; परन्तु सम्यक् विचार द्वारा अपने समस्त कार्यों को नियमित करते हैं।

जो आत्म-विजय के लिए चेष्टा कर रहे हैं, उनकी अपेक्षा और अधिक कठिन संग्राम कौन करता है !

स्वयं पर विजय प्राप्त करना, दिन-पर-दिन अपने ऊपर आधिपत्य जमाते जाना तथा धर्म में आगे बढ़ते जाना —यही हमारा एकमात्र कर्तव्य है।

४. इस जगत् में, समस्त पूर्णता में ही अपूर्णता विद्यमान है। हमारा कोई भी तत्वानुसन्धान पूर्णतया सन्देहरहित नहीं होता।

गम्भीर वैज्ञानिक तत्वानुसन्धान की अपेक्षा अपने को नगण्य समझना ईश्वर-प्राप्ति का निश्चित पथ है।

किन्तु विद्या अथवा किसी विषय का ज्ञान निन्दनीय नहीं है; क्योंकि वह कल्याणप्रद एवं ईश्वरादिष्ट है।

किन्तु सद्बुद्धि और साधु-जीवन विद्या की अपेक्षा अधिक वांछनीय हैं।

बहुत से लोग साधु होने की अपेक्षा विद्वान् होने की अधिक चेष्टा करते हैं, उसका फल यह होता है कि वे बहुधा कुमार्ग में विचरण करने लगते हैं, और उनका सारा परिश्रम या तो अल्प फल उत्पन्न करता है या बिल्कुल निष्फल हो जाता है।

५. अहो! सन्देह पैदा करने में मनुष्य जिस प्रकार यत्नशील रहता है, पाप दूर करने या पुण्य बोने में यदि उसी प्रकार रहता, तो आज पृथ्वी पर इस प्रकार के अमंगल और पाप-कार्य न होते; धार्मिक लोगों में इस प्रकार की उच्छृंखलता भी न रहती।

अन्तिम विचार के दिन निश्चय ही यह न पूछा जायगा कि तुमने क्या पढ़ा है; पूछा यही जायगा कि तुमने क्या किया है। यह न पूछा जायगा कि तुमने किस कुशलता से वाक्य-विन्यास किया है; बल्कि धर्म में कहाँ तक जीवन-यापन किया है—यही पूछा जायगा।

जिनके साथ तुम अच्छी तरह परिचित थे एवं जिन्होंने अपने अपने व्यवसायों में विशेष उन्नति प्राप्त कर ली थी, वे सब

पण्डित और अध्यापकगण आज कहाँ हैं, बता सकते हो ?

आज तो अन्य अन्य व्यक्ति उनके स्थान पर अधिकार ग्रहण कर रहे हैं; और यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे लोग उनके बारे में तनिक भी चिन्ता नहीं करते।

जब तक वे जीवित थे, तभी तक उनकी कुछ गिनती थी; अब कोई उनकी बात भी नहीं करता।

६. अहो ! सांसारिक गरिमा कैसे शीघ्र नष्ट हो जाती है ! अहा ! उनका जीवन यदि उनके ज्ञान की भाँति होता, तो हम समझते कि उनके अध्ययन और मनन सफल हुए हैं।

ईश्वर की सेवा के लिए किसी प्रकार की चेष्टा न कर, विद्या के थोथे अहंकार में कितने ही लोगों का विनाश हो जाता है !

संसार में वे दीन-हीन होना नहीं चाहते, वे बड़े कहलाना चाहते हैं; और इसीलिए तो वे इतने अहंकारी होते हैं।

वे ही वास्तविक महान् हैं जिनकी सहानुभूति निःस्वार्थ है।

वे ही वास्तविक महान् हैं जो अपनी दृष्टि में स्वयं अपमन्न होते हैं तथा उच्च पद द्वारा प्राप्त होनेवाले सम्मान को भी बहुत ही तुच्छ समझते हैं।

वे ही यथार्थ ज्ञानी हैं जो ईसा को पाने के लिए समस्त पार्थिव वस्तुओं को विष्ठा की भाँति समझते हैं।

वे ही यथार्थ पण्डित हैं जो ईश्वर की इच्छा से अपने को संचालित करते हैं और अपनी स्वयं की इच्छा त्याग देते हैं।

चतुर्थ परिच्छेद

कार्य में बुद्धिमत्ता।

१. प्रत्येक प्रमाद अथवा मनोवेगजनित इच्छा पर ही हमें विश्वास न कर लेना चाहिए, परन्तु सतर्कता एवं धैर्य के साथ उक्त विषय का ईश्वर के साथ जो सम्बन्ध है, उस पर विचार करना चाहिए।

अहा! हम इतने दुर्बल हैं कि प्रायः बहुत जल्द दूसरों की प्रशंसा की अपेक्षा उनकी निन्दा पर अधिक विश्वास कर लेते हैं, और फिर जगह-जगह उसका वर्णन करते फिरते हैं।

जो लोग पवित्रता में उन्नत हैं, वे बुरे प्रवादों पर सहसा विश्वास नहीं करते; क्योंकि वे जानते हैं कि मनुष्य की दुर्बलता उसे दूसरों की निन्दा करने और झूठ बोलने में अत्यन्त प्रबल बना देती है।

२. जो कार्य में हठी नहीं हैं तथा विशेष विपरीत प्रमाण होने पर भी अपने ही मत को पकड़े रहने का जिनका स्वभाव नहीं है, जो लोग जो कुछ सुनते हैं उसी पर विश्वास नहीं कर लेते और सुनने पर भी उसे तुरन्त बताते नहीं फिरते, वे अत्यन्त बुद्धिमान हैं।

३. बुद्धिमान एवं सद्विवेकी लोगों के समीप उपदेश ग्रहण करो, और केवल अपनी बुद्धि का ही अनुसरण न करके, तुम्हारी अपेक्षा जो अधिक जानते हैं उनसे ज्ञान प्राप्त करके उत्तम ॰चना करो।

साधु-जीवन मनुष्य को ईश्वर की दृष्टि में बुद्धिमान बनाता है, और इस प्रकार का व्यक्ति यथार्थ में बहु दर्शन प्राप्त करता है। वो अपने को जितना ही नगण्य समझेगा तथा जितने अधिक परिमाण में ईश्वर के इच्छाधीन रहेगा, वह सर्वत्र उसी परिमाण में बुद्धिमान एवं शान्तिपूर्ण बना रहेगा।

पंचम परिच्छेद

शास्त्र-पाठ।

१. सत्य का अनुसन्धान शास्त्र में करना होगा, वाक्चातुर्य में नहीं। जिस परमात्मा की प्रेरणा से बाइबिल लिखी गई है, उसी के सहारे बाइबिल पढ़ना उचित है। *

शास्त्र पढ़ने के समय कूट तर्क त्यागकर हमें कल्याण का ही अनुसन्धान करना चाहिए।

जिन ग्रंथों में विद्वत्ता एवं गम्भीरतापूर्ण अनेक गहन विषयों का वर्णन है, उन्हें पढ़ने के लिए हमारी जिस प्रकार रुचि होती है, उसी प्रकार अत्यन्त सरल रूप से लिखे हुए किसी भक्ति-ग्रंथ में भी हमारी रुचि होनी चाहिए।

ग्रन्थकार की ख्याति अथवा अप्रसिद्धि देखकर अपने मन को विचलित न करो। केवल सत्य के प्रति अपने प्रेम द्वारा प्रेरित

---

* 'नैषा तर्केण मतिरापनेया'—तर्क के द्वारा भगवत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता।—कठ उपनिषद्, १।२।९

होकर तुम अध्ययन करो। †

किसने लिखा है इस बात पर ध्यान न देकर, क्या लिखा है इसी पर सावधानी से विचार करना चाहिए।

२. मनुष्य चले जाते हैं, किन्तु ईश्वर का सत्य चिरकाल तक रहता है। विभिन्न रूपों में ईश्वर हमसे कह रहे हैं कि उनके पास किसी व्यक्तिविशेष का आदर नहीं है।

शास्त्र पढ़ते पढ़ते जिन सब बातों को केवल उड़ती नज़र से ही देखना उचित है, बहुधा उन्हीं बातों का मर्म जानने तथा उनकी आलोचना करने में हम व्यस्त हो जाते हैं। इस प्रकार हमारी उत्सुकता हमें अनेकों बार बाधा पहुँचाती है।

यदि भलाई की इच्छा करते हो, तो नम्रता, सरलता एवं विश्वास के साथ अध्ययन करो, और कभी भी पण्डित कहलाकर परिचित होने की वासना न रखो।

षष्ठ परिच्छेद

घोर आसक्ति।

१. जब कोई मनुष्य किसी वस्तु के लिए अत्यन्त उत्सुक हो जाता है, तब उसकी आभ्यन्तरिक शान्ति नष्ट हो जाती है। *

---

† 'आददीत शुभां विद्यां प्रयत्नादवरादपि'—मनु

नीच से भी यत्नपूर्वक उत्तम विद्या ग्रहण करो।

* इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥—गीता, २।६७

चंचल इन्द्रियों के पीछे जानेवाला मन उस मनुष्य की प्रज्ञा को उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जैसे वायु नाव को जल में मग्न कर देता है।

अभिमानी और लोभी लोग कभी शान्ति नहीं पाते, किन्तु नगण्य और विनीत लोग सदैव शान्ति से जीवन-यापन करते हैं। जो मनुष्य स्वार्थ के बारे में अब भी पूर्ण रूप से उदासीन नहीं हुआ है, वह शीघ्र ही प्रलोभित हो जाता है और अत्यन्त साधारण तथा नगण्य विषय भी उसे पराजित कर देते हैं। +

जिसकी आत्मा दुर्बल है तथा जो अब भी इन्द्रिय-भोगों में आबद्ध है, उसके लिए, काल में उत्पन्न और नष्ट होनेवाले इन्द्रियगत विषयों में आसक्तिपूर्ण पार्थिव वासना से अपने को विच्छिन्न करना अत्यन्त कठिन है। इसीलिए जब वह अनित्य पदार्थों को किसी तरह त्यागने की चेष्टा करता है तो उसका मन दुःखी हो जाता है और किसी के तनिक भी बाधा पहुँचाने से वह क्रुद्ध हो उठता है।

इसके अतिरिक्त यदि वह कामनाओं के पीछे दौड़ता है, तो फिर उसका मन पाप के भार का अनुभव करता है और उसके फलस्वरूप वह अशान्ति-भोग करता है, क्योंकि जिस शान्ति को वह

+ ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥—गीता, २।६२-६३

विषयों की चिन्ता करने से मनुष्य में उनके प्रति आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। आसक्ति से वासना की, तथा अतृप्त वासना से क्रोध की उत्पत्ति होती है। क्रोध से मोह होता है एवं मोह से स्मृति भ्रमित हो जाती है। स्मृतिभ्रंश होने से *नित्यानित्यविवेक* नष्ट हो जाता है और विवेक नष्ट हो जाने से उसका पूर्णतः पतन हो जाता है।

ढूँढ़ रहा था, इन्द्रियों द्वारा आबद्ध होने के कारण, वह उस ओर अग्रसर न हो सका।

अतएव, मन में यथार्थ शान्ति इन्द्रियों पर विजय-लाभ से ही मिलती है, इन्द्रियों का अनुगमन करने से नहीं। अतएव, जो व्यक्ति सुख का अभिलाषी है, उसके हृदय में शान्ति नहीं है; जो व्यक्ति अनित्य बाह्य विषयों का अनुसरण करता है, उसके मन में भी शान्ति नहीं है; किन्तु जो आत्माराम हैं एवं जिनका अनुराग तीव्र है, वे ही शान्ति के अधिकारी होते हैं। ×

× यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥—गीता, २।६०

हे कौन्तेय, चंचल सबल इन्द्रियाँ संयमी धीर पुरुष के मन को भी बलपूर्वक हर लेती हैं।

हमारे अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

१-३. श्रीरामकृष्णवचनामृत–तीन भागों में–अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'; प्रथम भाग (तृतीय संस्करण) — मूल्य ६); द्वितीय भाग (द्वि. सं.)—मूल्य ६); तृतीय भाग (द्वि. सं)— मूल्य ७)

४-५. श्रीरामकृष्णलीलामृत—(विस्तृत जीवनी)—(तृतीय संस्करण)– दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ५)

६. विवेकानन्द-चरित—(विस्तृत जीवनी)—(द्वितीय संस्करण)— सत्येन्द्रनाथ मजूमदार,—मूल्य ६)

७. परमार्थ-प्रसंग—स्वामी विरजानन्द, (सम्पूर्ण आर्ट पेपर पर छपी हुई) कार्डबोर्ड की जिल्द, मूल्य ३।); कपड़े की जिल्द, मूल्य ३।।।)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

८. विवेकानन्दजी के संग में–(वार्तालाप)–शिष्य शरच्चन्द्र, द्वि.सं. मूल्य ५।)

९. भारत में विवेकानन्द (द्वि. सं.) ५)

१०. ज्ञानयोग (प्र. सं.) ३)

११. पत्रावली (प्रथम भाग) (प्र. सं.) २=)

१२. पत्रावली (द्वितीय भाग) (प्र. सं.) २=)

१३. देववाणी (प्र. सं.) २=)

१४. धर्मविज्ञान (द्वि.सं.) १।।=)

१५. कर्मयोग (द्वि. सं.) १।।=)

१६. हिन्दू धर्म (द्वि. सं.) १।।)

१७. प्रेमयोग (तृ. सं.) १।=)

१८. भक्तियोग (तृ. सं.) १।=)

१९. आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग (तृ. सं.) १।)

२०. परिव्राजक (च. सं) १।)

२१. प्राच्य और पाश्चात्य (च. सं.) १।)

२२. महापुरुषों की जीवन-गाथायें (तृ. सं.) १।)

२३. व्यावहारिक जीवन में वेदान्त (प्र. सं.) १=)

२४. राजयोग (प्र. सं.) १=)

२५. स्वाधीन भारत ! जय हो ! (प्र. सं.) १=)

२६. धर्मरहस्य (द्वि. सं.) १

२७. भारतीय नारी (द्वि. सं.)

२८. भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ (द्वि.सं.) ।

२९. शिक्षा (द्वि. सं) ||=)
३०. शिकागो-वक्तृता (प. सं.) ||=)
३१. हिन्दू धर्म के पक्ष में (द्वि. सं.) ||=)
३२. मेरे गुरुदेव (पं. सं.) ||=)
३३. कवितावली (प्र. सं.) ||=)
३४. शक्तिदायी विचार (द्वि.सं.) ||=)
३५. हमारा भारत (प्र. सं.) ||)
३६. वर्तमान भारत (च. सं.) ||)
३७. मेरा जीवन तथा ध्येय (द्वि. सं.) ||)
३८. पवहारी बाबा (द्वि. सं.) ||)
३९. मरणोत्तर जीवन (द्वि. सं.) ||)
४०. मन की शक्तियाँ तथा जीवनगठन की साधनायें (प्र. सं.) ||)
४१. सरल राजयोग (प्र. सं.) ||)
४२. मेरी समर-नीति (प्र. सं.) |≈)
४३. ईशदूत ईसा (प्र. सं.) |=)
४४. विवेकानन्दजी से वार्तालाप (प्र. सं.) १|=)
४५. विवेकानन्दजी की कथायें (प्र. सं.) १|)

---

४६. श्रीरामकृष्ण-उपदेश (प्र. सं.) ||=)
४७. वेदान्त–सिद्धान्त और व्यवहार –स्वामी शारदानन्द, (प्र. सं.) |=)
४८. गीतातत्त्व—स्वामी शारदानन्द, (प्र. सं.) २|=)

मराठी विभाग

१-२. श्रीरामकृष्ण-चरित्र—प्रथम भाग (तिसरी आवृत्ति) ४|
द्वितीय भाग (दुसरी आवृत्ति) ४|≈
३. श्रीरामकृष्णवचनामृत (पहिली आवृत्ति)—(अंतरंग शिष्यांशीं व भक्तांशीं झालेलीं भगवान श्रीरामकृष्णांचीं संभाषणें) ५||
४. कर्मयोग—(पहिली आवृत्ति)–स्वामी विवेकानंद १||=
५. महापुरुषांच्या जीवनकथा–(पहिली आवृत्ति)–स्वामी विवेकानंद १||=
६. माझे गुरुदेव— (दुसरी आवृत्ति) स्वामी विवेकानंद ||≈
७. हिंदु-धर्माचें नव-जागरण–(पहिली आवृत्ति)–स्वामी विवेकानंद ||–
८. शिक्षण—(पहिली आवृत्ति)–स्वामी विवेकानंद ||–
९. पवहारी बाबा—(पहिली आवृत्ति)–स्वामी विवेकानंद ||
१०. शिकागो-व्याख्यानें–(तिसरी आवृत्ति)–स्वामी विवेकानंद ||≈
. श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा—(तिसरी आवृत्ति)–भगवान श्रीरामकृष्णांच्या निवडक उपदेशांचें त्यांच्याच एका अंतरंग शिष्याने केलेलें संकलन ||≈
नागमहाशय-चरित्र—(भगवान श्रीरामकृष्णांचे सुप्रसिद्ध शिष्य) (दुसरी आवृत्ति) २ ६,

आश्रम, धन्तोली, नागपुर–१, म. प्र.